आ० हरिभद्रसूरीश्वर- कृत

श्री अष्टक प्रकरण

卐

हिन्दी अनुवादक

मुनि मनोहर विजय

卐

प्रकाशक

श्री ज्ञानोपासक समिति

श्री विजयलावण्यसूरीश्वर-ज्ञानमंदिर, बोटाद

सौराष्ट्र (गुजरात)

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

श्रीविजयनेमिसूरिग्रन्थमालारत्नम्—५४

卐

याकिनीमहत्तराधर्मसूनु, बहुश्रुत, परमपूज्य,

आचार्यश्रेष्ठ

श्री हरिभद्रसूरीश्वर-विरचित

卐 श्री अष्टक प्रकरण 卐

हिन्दी भावानुवाद

अनुवादक

मुनि मनोहरविजय

卐

प्रकाशक

श्री ज्ञानोपासक समिति

श्री विजयलावण्यसूरीश्वर-ज्ञानमंदिर, बोटाद

सौराष्ट्र (गुजरात)

प्रकाशक :—

श्री ज्ञानोपासक समिति,

श्री विजयलावण्यसूरीश्वर-ज्ञानमन्दिर

अध्यक्ष:—

चिमनलाल हरिचन्द बगडोया,

बोटाद (BOTAD) सौराष्ट्र (गुजरात)

*

वीर सं० २४९९ — विक्रम सं० २०२९

नेमि सं० २४ — कार्तिक शुक्ला १

*

मूल्य २) रुपये

प्राप्ति-स्थान :—

१. प्रकाशक-स्थल, बोटाद ।

२. सरस्वती पुस्तक भंडार, हाथीखाना रतनपोल

अहमदाबाद (गुजरात)

*

मुद्रक :—

विद्या बंसल, एम० ए०

मंत्री, अर्चना प्रकाशन

१, मेहरा हाउस, कालाबाग, अजमेर (राज.)

प्रकाशकीय

१४४४ ग्रन्थों के प्रणेता वर्त्तमानकाल के श्रेष्ठतम संस्कृत साहित्य सर्जक, याकिनीमहत्तरापुत्र प० पू० आचार्य भगवंत श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज विरचित श्री अष्टक प्रकरण का हिन्दी भावानुवाद पाठकों के कर कमलों में रखते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु सिरोही श्री जैन संघ पेढी द्वारा रु० ४००), गं० स्व० लक्ष्मी बाई मूलचंदजी शाहा द्वारा रु० ४००), चुनीलाल अचलदास वराडावाले हाल सिरोही द्वारा रु० १०१) एवं सेठानीजी श्री प्रभावती कुंवर धर्मपत्नी श्री ज़ीतमलजी लोढा अजमेर वालों द्वारा रु० १०१) सहायता मिली है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के निमित्तभूत सम्यक् ज्ञान के ऐसे प्रकाशनों में आर्थिक सहयोग देने वाले उक्त महानुभावों की भी हम अनुमोदना करते हैं।

पुस्तक के सत्वर प्रकाशन में सहायता प्रो० सोहन लाल पटनी ने की एवं मुद्रण-व्यवस्था का भार डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली ने उठाया। तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं।

स्वकीयम्

सिरोही के २०२८ के चातुर्मास दरम्यान एक दिन अचानक ही 'श्री अष्टक प्रकरण' हाथ में आया। इस ग्रन्थ के लिये मेरे पूज्य तारक गुरुदेवश्री के श्रीमुख से अनेक बार प्रशंसा सुनी थी। अत: ग्रन्थ हाथ में आते ही एकबार उसे आद्यन्त पढ़ लिया। इस ग्रन्थ को पढ़ते ही इस ग्रन्थ के ३२ अष्टकों में विभिन्न विषयों के रहस्योद्‌घाटनों ने मेरे मन को अत्यन्त प्रसन्न व प्रभावित किया।

अष्टक के रचनाकार १४४४ ग्रन्थों के प्रणेता, याकिनीमहत्तरा धर्मसूनु, परमबहुश्रुत, प्रात:स्मरणीय प० पू० आचार्य भगवन्त श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी म० सा० को मैं बारंबार मनोमन भावभरी वन्दनाञ्जलि देता रहा। पता नहीं कितनी देर तक मैं इस परमतारक, आचार्यश्रेष्ठ के प्रति नतमस्तक होकर प्रशंसा करता रहा। मेरे ज्येष्ठ शिष्य वयोवृद्ध मुनिश्री प्रमोदविजयजी के साथ एक बार फिर अष्टक पढ़ा। पर मेरा मन न भरा। मैं इस ग्रन्थ के प्रति इतना आकृष्ट हुआ था कि इसे पुनः पुनः पढ़ा।

सचमुच श्री अष्टकप्रकरणकार महर्षि ने इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों को संकलित ही नहीं किया, वरन् उन २ विषयों का मार्मिक

तलस्पर्शी विश्लेषण भी किया है। साथ २ उसके रहस्यों को स्वपर शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है। यह ग्रन्थ एक स्वाध्याय ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थपर विद्वच्छिरोमणि परमादरणीय परमपूज्य आचार्य भगवान् श्री **जिनेश्वरसूरीश्वरजी** की संस्कृत में सुन्दर, सुस्पष्ट, विस्तृत टीका है। मूल ग्रन्थकार महर्षि के गहन अर्थों की रस प्रचुर विवेचना टीका में है। पर संस्कृत भाषाविद् टीका के माधुर्यका रसास्वाद कर सकते हैं।

यदि इस प्रकरण का भावानुवाद हिन्दी में हो जाय तो इस शास्त्र ग्रन्थ की स्वाध्यायसुधा सभी के लिये सुलभ बने। राष्ट्रभाषा में अष्टकजी के अनुवाद की मेरी तमन्ना को मैंने साकार करना प्रारंभ किया।

परमतारक, निष्कारण जगद्बन्धु, सर्वोपकारी, परमकरुणाकर **भगवान् श्री जिनेश्वर परमात्मा**, जंगमयुगप्रधानकल्प-जगद्गुरु-तपागच्छाधिपति-सूरिचक्र चक्रवर्ति-राणकपुर-कापरडा शेरिला स्तंभ तीर्थ, कदंबगिरि, तालध्वजगिरि, मधुपुरी प्रमुखानेक प्राचीन तीर्थोद्धारक, सर्वतन्त्र स्वतंत्र, शासनसम्राट् प० पू० स्व० आचार्य भगवंत श्रीमद् **विजयनेमिसूरीश्वरजी** म० सा० के साधिकसात लाख श्लोक प्रमाण नूतन संस्कृत साहित्य सर्जक, परमशासनप्रभावक पट्टप्रभाकर व्याकरण वाचस्पति, कविरत्न, शास्त्रविशारद, साहित्यसम्राट् स्व० प० पू० गुरु भगवंताचार्यदेवेश श्रीमद् विजयलावण्यसूरीश्वरजी म० सा०, एवं सकलजन्तुहितकर जिनधर्म की कृपा का ही यह फल है कि इस शास्त्रग्रन्थ का भावानुवाद जल्दी हो गया।

यह भी एक सुखद संयोग की बात है कि—सिरोही गवर्नमेण्ट कॉलेज के विद्वान् व नवयुवक उत्साही प्रोफेसर श्री सोहनलालजी पटनी का मेरे पास यकायक वन्दना हेतु आना हुआ। मैंने अष्टक प्रकरण पर संशोधनात्मक दृष्टि डालने का व अष्टकप्रकरणकार महर्षि का चिंतनात्मक परिचय लिखने का भार पटनीजी पर डाला। पटनीजी ने अपने दायित्व को सुन्दर ढंग से निभाकर सुकृत कमाया। मैं आशा करूंगा कि अष्टक प्रकरण के अध्ययन मनन व चिंतन द्वारा सम्यग्ज्ञानालोक से सभी लाभान्वित हों !

वीर सं. २४९९ 卐 विक्रम सं. २०२९
नेमि सं. २४ 卐 कार्तिक शुक्ला १,
श्री गौतमस्वामिकेवलज्ञानोपलब्धि
एवं शासनसम्राट् जन्म शताब्दी
समारोह. दिन.

मुनि मनोहर विजय
तपागच्छीय श्री विजयहीरसूरीश्वर
श्री जैन संघ उपाश्रय जैन वीथी.
सुनारवाडा, सिरोही (राज.).

प्राक्कथन

श्री हरिभद्रसूरि जैन-साहित्य में एक युगस्रष्टा के रूप में जाने जाते हैं। उनके उपलब्ध साहित्य से ही हमें उनकी बहुश्रुतता समन्वयात्मकता एवं प्रतिभा का परिचय मिलता है। उनकी शतमुखी प्रतिभा का परिचय तत्कालीन दार्शनिक ग्रन्थों में भी मिलता है। जैन न्याय, योगशास्त्र, एवं जैनकथा-साहित्य में उन्होंने युगान्तर उपस्थित किया। उनके कृतित्व की विराट व्यञ्जना का परिचय तो इसी से मिलता है कि उन्होंने १४४४ प्रकरण ग्रन्थों का सर्जन किया। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। जैनधर्म के उत्तरकालीन साहित्य के इतिहास में ये मुख्य लेखक रहे हैं एवं जैन समाज के संगठन में ये प्रमुख व्यवस्थापक रहे हैं। वास्तव में अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण ये जैनधर्म के पूर्वकालीन तथा उत्तरकालीन इतिहास के मध्यवर्ती सभा-स्तम्भ रहे हैं। उनके उपलब्ध साहित्य से पता लगता है कि वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे एवं उनके गच्छ का नाम विद्याधर था। उनके गच्छपति आचार्य का नाम जिनभट तथा दीक्षागुरु का नाम जिनदत्त था। उनकी धर्मजननी साध्वी का नाम याकिनी महत्तरा था। उनका जन्म चित्रकूट (वर्तमान चित्तोड) में हुआ था। ये अपने समय के समर्थ ब्राह्मण तथा राज्य पुरोहित थे। विद्वत्ता के अभिमान में उन्होंने एक बार प्रतिज्ञा की कि जिसका कहा उनकी समझ में नहीं आयेगा वे उसी के शिष्य बन जायेंगे। एक दिन वे

जैन उपाश्रय के पास से निकल रहे थे। उस समय साध्वी याकिनी महत्तरा के मुख से निकली एक प्राकृत-गाथा उनकी समझ में नहीं आई एवं वे तुरन्त अपनी प्रतिज्ञानुसार उनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए तैयार हो गए। साध्वी याकिनी महत्तरा ने उन्हें अपने गुरु आचार्य जिनभट से दीक्षा दिला दी पर हरिभद्रसूरिजी ने साध्वी याकिनी महत्तरा को सदैव अपनी धर्मजननी माना एवं अपने प्रत्येक ग्रन्थ में अपने लिए "याकिनीमहत्तराधर्मसूनु" विशेषण का प्रयोग किया। उनके दो भागिनेय हंस एवं परमहंस उनसे दीक्षित हुए पर वे धार्मिक असहिष्णुता के कारण बौद्धों के द्वारा मारे गए। प्रतिशोध की आग में जलते आचार्य ने १४४४ बौद्धों का संहार करने का संकल्प किया पर उनके गुरु ने उन्हें तीन गाथाएँ लिखकर भेजीं एवं साधुधर्म की सहिष्णुता का उपदेश दिया। १४४४ बौद्धों के संहार के सकल्प का परिहार करने के लिए १४४४ ग्रन्थों की रचना करने का परामर्श गुरु ने दिया। हरिभद्रसूरि जी ने उनके आदेश का पालन किया।

श्री हरिभद्रसूरिजी के समय के विषय में दो मत प्रचलित हैं-- एक वि.सं. ५३० से ५८५ के आसपास का एवं दूसरा वि. सं० ७५७ से ८२७ का। मुनि जिनविजयजी ने समकालीन ग्रन्थों के उद्धरणों से उनका समय वि. सं० ७५७ से ८२७ के बीच निर्धारित किया है। इस समय में भारतवर्ष में चैत्यवासियों का बड़ा प्रभाव था व देव द्रव्य का अपने स्वयं के लिए प्रयोग कर रहे थे। तब इस आचार्य ने डंके की चोट अपने "संबोध प्रकरण" में कहा :-

जिणपवयणवुड्ढिकरं पभावगं नाणदंसण-गुणाणं ।
वुड्ढतो जिणदव्वं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ।। ६७ ।।
मंगलदव्वं निहिदव्वं सासयदव्वं च सव्वमेगठा ।
आसायणपरिहारा जयणाए तं खु ठायव्वं ।। ६६ ।।

जिन-द्रव्य तो श्रीजिनप्रवचन की वृद्धि करने वाला, ज्ञानगुण तथा दर्शन गुण की प्रभावना करने वाला होता है। इस द्रव्य को बढ़ाने वाला जीव तीर्थङ्कर पद प्राप्त करता है। यह द्रव्य मंगलद्रव्य है, शाश्वतद्रव्य है एवं निधिद्रव्य है।

उनके प्रतिष्ठित ग्रन्थों के नाम ये हैं :—

(१) अनेकान्तवादप्रवेश
(२) अनेकान्तजयपताका
(३) अनुयोगद्वारसूत्र
(४) अष्टकप्रकरण
(५) आवश्यकसूत्रवृहद्वृत्ति
(६) उपदेशपदप्रकरण
(७) दशवैकालिकसूत्रवृत्ति
(८) न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति
(९) धर्मबिन्दुप्रकरण
(१०) धर्मसंग्रहणीप्रकरण
(११) नन्दीसूत्रलघुवृत्ति
(१२) पञ्चाशकप्रकरण
(१३) पंचवस्तुप्रकरणटीका
(१४) पञ्चसूत्रप्रकरणटीका

(१५) प्रज्ञापनासूत्रप्रवेशव्याख्या

(१६) योगदृष्टिसमुच्चय

(१७) योगबिन्दु

(१८) ललितविस्तरा

(१९) लोकतत्त्वनिर्णय

(२०) विंशतिविंशतिकाप्रकरण

(२१) षड्दर्शनसमुच्चय

(२२) शास्त्रवार्तासमुच्चय

(२३) श्रावकधर्मविधि

(२४) समराईच्चकहा (समरादित्य कथा)

(२५) सम्बोधप्रकरण

(२६) सम्बोधसप्ततिका प्रकरण

प्रस्तुत अष्टक प्रकरण में ३२ अष्टक है। इनका विषयवस्तु आपके सामने है। भाषा की सरलता, पर विचारों की गूढ़ता इनकी विशेषता है। प्रत्येक अष्टक में अपने विषय का सीमित किन्तु सारगर्भित विवेचन है। यह तो आप पर निर्भर है कि आप कितना ग्रहण करते हैं। मुनिराज मनोहर विजयजी ने अपने अनुभव एवं आचार का पुट देकर आपके लिए यह परमौषध तैयार किया है। इसका सेवन कर हम सब कृतार्थ बनें यही भावना है।

कार्तिक पूर्णिमा
सन् १९७२

प्रो० सोहनलाल पटनी
एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी)
हिन्दीविभाग, राजकीय महाविद्यालय
सिरोही (राज).

श्री अष्टक प्रकरण में आये हुए श्लोकों की अकारादि अनुक्रमणिका

श्लोक-प्रतीक	अष्टक/सं०		श्लोक-प्रतीक	अष्टक/सं०	
अकिञ्चितकरकं ज्ञेयं	३२	६	अभव्येषु च भूतार्था	३१	६
अकृतोऽकारितश्चान्यैः	६	१	अभावे सर्वथैतस्या	१४	३
अक्षयोपशमात्याग	८	५	अभावेऽस्या न युज्यन्ते	१५	८
अङ्गेष्वेव जरा यातु	२१	६	अष्टकाख्यं प्रकरणम्	३२	१०
अचिन्त्यपुण्य संभार	३१	५	अष्टपुष्पी समाख्याता	३	१
अत उन्नतिमाप्नोति	२३	८	अष्टापायविनिर्मुक्त	३	३
अत एवागमज्ञोऽपि	२२	५	असम्भवीदं यद्वस्तु	२९	५
अतः प्रकर्षसम्प्राप्तात्	२५	१	अस्माच्छासनमालिन्य	२३	६
अतः सर्वगताभासम्	३०	७	अस्वस्थस्यैव भैषज्यं	३२	५
अतः सर्वप्रयत्नेन	२३	५	अहिंसासत्यमस्तेयं	४	६
अत्यंत मानिनासार्द्धम्	१२	२	आत्मनस्तत्स्वभावत्वाद्	३०	४
अत्रैवासावदोषश्चेद्	१८	६	आत्मस्थमात्मधर्मत्वात्	३०	५
अदानेऽपि च दीनादे	७	५	आर्त्तध्यानाख्यमेकम्	१०	१
अदोषकीर्तनादेव	२०	५	इत्थं चैतदिहैष्टव्यम्	२८	८
अधिकारिवशाच्छास्त्रे	२	५	इत्थं जन्मैव दोषोऽत्र	१८	४
अन्यस्त्वाहास्य राज्यादि	२८	१	इत्थमाशयभेदेन	२७	६
अन्योऽविमृश्य शब्दार्थ	१८	१	इदं तु यस्य नास्त्येव	२२	६
अन्यैस्त्वसङ्ख्यमन्येषाम्	२६	२	इमौ शुश्रूषमाणस्य	२५	५
अपकारिणि सद्बुद्धि	२९	७	इयं च नियमाज्ज्ञेया	३१	८
अपेक्षा चाविधिश्चैव	८	२	इष्टापूर्त्तं न मोक्षाङ्गम्	४	८
अप्रदाने हि राज्यस्य	२८	२	इष्टेतरवियोगादि	१०	२

श्लोक–प्रतीक	अष्टक/सं०		ल क–प्रतीक	अष्टक/सं०	
इष्यते चेत् क्रिया	१४	८	कश्चिदाहान्नपानादि	३२	३
उच्चते कल्प एवास्य	२७	२	कश्चिद्दृषिस्तपस्तेपे	१९	४
उदग्रवीर्यविरहात्	८	६	किञ्चेहाधिक दोषेभ्य:	२८	६
उद्वेगकृद्विषादाढ्यम्	१०	३	किम्फलोऽन्नादि संभोगो	३२	४
उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्या:	१५	७	किं वेह बहुनोक्तेन	१९	५
ऋषीणामुत्तमं ह्येतत्	२	७	कृत्वेदं यो विधानेन	२	३
एको नित्यस्तथाऽबद्ध:	१०	४	कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो	३२	१
एतद्विपर्ययाद्भाव	८	७	क्व खल्वेतानि युज्यन्ते	१३	३
एतत्तत्त्वपरिज्ञानात्	१०	८	क्षणिकज्ञानसंतान	१५	१
एतस्मिन्सततं यत्न:	९	८	गृहीतोऽभिग्रह: श्रेष्ठो	२१	३
एतावन्मात्रसाम्येन	१७	६	गृहीत्वा ज्ञानभैषज्य	२१	२
एभिर्देवाधिदेवाय	३	७	गेहाद् गेहान्तरं कश्चित्	२४	१
एवं न कश्चिदस्यार्थ	२७	८	” ” ”	२४	२
एवमाहेह सूत्रार्थम्	२६	४	” ” ”	२४	३
एवम्भूताय शान्ताय	१	८	” ” ”	२४	४
एवं विज्ञाय तत्त्याग-	१०	७	जगद्गुरोर्महादानम्	२६	१
एवं विरुद्धदानादौ	२१	७	जलेन देहदेशस्य	२	२
एवं विवाह धर्मादौ	२८	५	जिनोक्तमिति सद्भक्त्या	८	८
एवं सद्वृत्तयुक्तेन	१	५	जीवतो गृहवासेऽस्मिन्	२५	४
एवं सामायिकादन्यद्	२९	८	ज्ञाने तपसि चारित्रे	३०	२
एव ह्युभयथाप्येतद्	७	८	ज्ञापकं चात्र भगवान्	२७	५
एवं ह्येतत्समा दानं	२१	४	ततश्च भ्रष्टसामर्थ्य	१९	८
औचित्येन प्रवृत्तस्य	२२	८	ततश्चास्या सदा सत्ता	१५	३
कर्त्तव्या चोन्नति:	२३	७	ततश्चोर्ध्वगतिर्धर्मात्	१४	६
कर्मेन्धनं समाश्रित्य	४	१	तत: सदुपदेशादे:	१६	४

श्लोक-प्रतीक	अष्टक/सं०	
ततः सन्नीतितोऽभावाद्	१४	४
ततो महानुभावत्वात्	२५	३
तत्यागायोपशान्तस्य	१०	५
तत्रप्रवृत्तिहेतुत्वात्	२०	६
तत्र प्राण्यङ्गमप्येकम्	१७	३
तत्रात्मा नित्य एवेति	१४	१
तथाविधप्रवृत्त्यादि	६	५
तथोत्कृष्टे च सत्यस्मिन्	२२	३
तदेवं चिन्तनं न्यायात्	२६	६
तया सह कथं सङ्ख्या	२६	६
तस्माच्छास्त्रं च लोकं च	१७	७
तस्मात्तदुपकाराय	२८	४
तस्मादासन्न भव्यस्य	२२	७
तस्माद्यथोदित वस्तु-	१३	८
तस्यापि हिंसकत्वेन	१५	६
दया भूतेषु वैराग्यं	२४	८
दातॄणामपि चैताभ्यां	५	८
दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता	४	२
दुःखात्मकं तपः केचित्	११	१
दृष्टश्चाभ्युदये भानोः	३१	७
दृष्टा चेदर्थसंसिद्धौ	११	७
दृष्टोऽसंकल्पितस्यापि	६	८
दे ाद्यपेक्षया चेह	१२	८
देहमात्रे च सत्यस्मिन्	१६	७
द्रव्यतो भावतश्चैव द्विधा	२	१
द्रव्यतो भावतश्चैव	८	१
द्रव्यादिभेदतो ज्ञेयो	२१	८
धर्मलाघवकृन्मूढो	५	५
धर्माङ्गख्यापनार्थं च	२७	३
धर्मार्थं पुत्रकामस्य	२०	२
धर्मार्थं यस्य वित्तेहा	४	६
धर्मार्थिभिः प्रमाणादेः	१३	४
धर्मोद्यताश्च तद्योगात्	२६	८
ध्यानाम्भसा तु जीवस्य	२	६
न च क्षणविशेषस्य	१५	५
न च मोहोऽपि सज्ज्ञान	१	२
न च संतान भेदस्य	१५	४
न चैवं सद्गृहस्थानाम्	६	३
न मांसभक्षणे दोषो	१८	२
न मोहोद्रिक्तताऽभावे	२२	४
नागादे रक्षणं यद्वत्	२८	७
नाति दुष्टाऽपि चामीषाम्	५	७
नाऽद्रव्योऽस्ति गुणोऽलोके	३०	८
नापवादिककल्पत्वात्	२०	३
नाशहेतोरयोगेन	१५	२
नित्यानित्ये तथा देहात्	१६	१
निमित्तभावतस्तस्य	७	६
निरपेक्षप्रवृत्त्यादि	६	३
निरवद्यमिदं ज्ञेयम्	२६	२
निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति	१४	२

श्लोक-प्रतीक	अष्टक/सं०		श्लोक-प्रतीक	अष्टक/सं०	
नि:स्वान्धपङ्गवो	५	६	भवहेतुत्त्वतश्चायम्	७	३
न्याय्यादौ शुद्धवृत्त्यादि	६	७	भावविशुद्धिरपि ज्ञेया	२२	१
पञ्चैतानि पवित्राणि	१३	२	भावशुद्धिनिमित्तत्वाद्	२	४
परमानन्दरूपं तद्	३२	८	भिक्षुमांसनिषेधोऽपि	१७	५
परलोकप्रधानेन	१२	६	भुञ्जानं वीक्ष्य दीनादि	७	२
पातादिपरतन्त्रस्य	६	४	भूयांसो नामिनो बद्धा	१०	६
पापं च राज्यसपंत्सु	४	४	भोगाधिष्ठानविषये	१४	७
पारिव्राज्यं निवृत्ति	१८	८	मद्यं पुन: प्रमादाङ्गम्	१९	१
पित्रुद्वेगनिरासाय	२५	३	मद्यं प्रपद्य तद्भोगात्	१९	७
पीडाकर्तृत्वयोगेन	१६	२	मन इन्द्रियसंयोगानाम्	११	५
पूजया विपुलं राज्यं	४	३	मय्येव निपतत्वेतद्	२९	४
प्रकृत्या मार्गगामित्वम्	२४	७	महातपस्विनश्चैवम्	११	३
प्रक्षीणतीव्रसंक्लेशम्	२३	४	महादानं हि संख्यावद्	२६	५
प्रमाणेन विनिश्चित्य	१३	६	महानुभावताऽप्येषा	२६	७
प्रव्रज्या प्रतिपन्नो य:	५	४	मां स भक्षयिताऽमुत्र	१८	३
प्रशस्तो ह्यनया भाव:	३	८	मूलं चैतदधर्मस्य	२०	८
प्रसिद्धानि प्रमाणानि	१३	५	मोक्षाध्वसेवया चैता:	४	७
प्राणिनां बाधकं चैतत्	२०	७	यच्च चन्द्रप्रभाद्यत्र	३०	६
प्रारम्भमङ्गलं ह्यस्या	२५	७	यतिर्ध्यानादियुक्तो	५	२
प्राण्यङ्गत्वेन न च नो	१७	४	यत्पुन: कुशलं चित्तम्	२९	३
प्रायो नचानुकम्पावान्	७	४	यथाविधि नियुक्तस्तु	१८	७
प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्	१८	५	यथैवाविधिना लोके	८	४
बध्नात्यपि तदेवालम्	२३	२	यन्न दु:खेन सम्भिन्नम्	३२	२
भक्षणीयं सता मांसम्	१७	१	यस्तून्नतौ यथाशक्ति	२३	३
भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थेह	१७	२	यस्य चाराधनोपाय:	१	६

श्लोक-प्रतीक	अष्टक	सं०
यस्य संक्लेशजननो	१	१
यः पूज्यः सर्वदेवानाम्	१	४
यः शासनस्यमालिन्ये	२३	१
यो न संकल्पितः पूर्वम्	६	२
यापि चाशनादिभ्यः	११	६
या पुनर्भावजैः पुष्पैः	३	५
यावत्संतिष्ठते तस्यः	३१	३
युक्त्यागमबहिर्भूत	११	४
ये तु दानं प्रशंसन्ति	२७	७
यो वीतरागः सर्वज्ञो	१	३
रागादेव नियोगेन	२०	१
रागो द्वेषश्च मोहश्च	२२	२
लब्धिख्यात्यर्थिना तु	१२	४
लब्ध्याद्यपेक्षया ह्येतद्	८	३
लौकिकैरपि चैषोऽर्थो	२१	५
वचनं चैकमप्यस्य	३१	४
वरबोधित आरभ्य	३१	२
विचार्यमेतत् सद्बुद्ध्या	१६	८
विजयेऽस्य फलं धर्म	१२	७
विजयेऽस्याऽपि पातादि	१२	३
विजयोह्यत्र सन्नीत्या	१२	५
विनयेन समाराध्य	१९	५
विनश्यन्त्यधिकं यस्मात्	२८	३
विभिन्नं देयमाश्रित्य	६	६
विशिष्टज्ञानसंवेग	११	८
विशुद्धिश्चास्य तपसा	४	५
विषकण्टकरत्नादौ	९	२
विषयप्रतिभासं चा	९	१
विषयो धर्मवादस्य	१३	१
विषयो वाऽस्य वक्तव्यः	६	५
वीतरागोऽपि सद्वेद्य	३१	१
वृद्धाद्यर्थमसङ्गस्य	५	३
शरीरेणाऽपि सम्बन्धो	१४	५
शास्त्रार्थश्च प्रयत्नेन	७	७
शास्त्रे चाप्तेन वोऽप्येतत्	१७	८
शुद्धागमैर्यथालाभम्	३	२
शुभानुबन्ध्यतः पुण्यम्	२४	५
शुभाशयकरं ह्यतेद्	२७	४
शुष्कवादो विवादश्च	१२	१
श्रूयते च ऋषिर्मद्यात्	१९	३
स एवं गदितस्ताभि	१९	६
सः कृतज्ञ पुमान् लोके	२५	८
संकल्पनं विशेषेण	६	४
सङ्कीर्णैषा स्वरूपेण	३	४
सत्यां चास्यां तदुक्त्या	१३	७
सदागमविशुद्धेन	२४	६
सदौचित्यप्रवृत्तिश्च	२५	२
संवेद्य योगीनामेतद्	३२	९
सर्व एव च दुख्येवं	११	२
सर्वपापनिवृत्तिर्यत्	२५	६

श्लोक-प्रतीक	अष्टक	सं०
सर्वसंपत्करी चैषा	५	१
सर्वारम्भ निवृत्तस्य	७	१
सामायिकविशुद्धात्मा	३०	१
सामायिकं च मोक्षाङ्गम्	२६	१
सुवैद्यवचानाद्यद्वद्	१	७
सूक्ष्म-बुद्ध्या सदा ज्ञेयो	२१	१
स्नात्वानेन यथायोगम्	२	८
स्नायादेवेति न तु	२०	४
स्मरणप्रत्यभिज्ञानम्	१६	६
स्वरूपमात्मनो ह्यतेद्	३०	३
स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य	६	६
स्वोचिते तु यदारम्भे	६	७
हिंस्य कर्मविपाकेऽपि	१६	३

ऐं नमः 卐 ॐ ह्रीं अर्हं नमः 卐 ऐं नमः ।।

शासन-सम्राट् श्री विजयनेमिसूरीश्वर प्रगुरवे नमः ।।

साहित्यसम्राट् श्री विजयलावण्यसूरीश्वर सद्गुरवे नमः ।।

१४४४ ग्रन्थप्रणेता याकिनीमहत्तरा धर्मसूनु महान् बहुश्रुत परमपूज्य आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्रसूरीश्वरप्रणीत

卐 श्री अष्टक प्रकरण 卐

का

सरल हिन्दी भावानुवाद

* * * *

* महादेवाष्टकम् *

[१]

यस्य संक्लेश-जननो, रागो नास्त्येव सर्वथा ।
न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु, शमेन्धनदवानलः ।। १ ।।
न च मोहोऽपि सज्ज्ञानच्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत् ।
त्रिलोकख्यातमहिमा, महादेवः स उच्यते ।। २ ।। युग्मम्

भावार्थ—जिनमें क्लेश का उत्पादक राग लेशमात्र भी नहीं है, जिनमें समता रूपी इन्धनों को जलाने हेतु दावानल जैसा द्वेष भी नहीं है, जिनमें सद् ज्ञान का(सम्यक् ज्ञान का) आच्छादक, अशुद्धाचरणकारी मोह भी नहीं है और जो तीनों लोकों में (स्वर्गलोक, मृत्युलोक, पाताललोक अथवा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक व तिर्यक् लोक, अथवा भूः भुवः स्वः, में) प्रख्यात महिमा वाले हैं उन्हें महादेव कहते हैं। [१-२]

यो वीतरागः सर्वज्ञो, यः शाश्वतसुखेश्वरः।
क्लिष्टकर्मकलातीतः, सर्वथा निष्कलस्तथा ॥ ३ ॥
यः पूज्यः सर्वदेवानां, यो ध्येयः सर्वयोगिनाम्।
यः स्रष्टा सर्वनीतीनां, महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥ युग्मम्

भावार्थ—जो वीतराग हैं, जो सर्वज्ञ हैं, जो शाश्वत सुख के स्वामी हैं, जो घाती एवं अघाती कर्मों की पहुँच से परे एवं क्लेशकारी कर्म और कला अर्थात् कर्म धूलि से रहित हैं, जो सर्वथा शरीर रहित हैं, जो सर्व देवों के पूजनीय हैं, जो सर्व योगीजनों के ध्येय आराध्य देव हैं, जो सर्व नीति, नय एवं न्याय के सृजक हैं (प्रत्येक तीर्थङ्कर भगवान अपनी-अपनी अपेक्षा से तीर्थ के सृजक होते हैं) उन्हें महादेव कहते हैं। [३-४]

एवं सद्वृत्तयुक्तेन, येन शास्त्रमुदाहृतम्।
शिववर्त्म परं ज्योतिस्त्रिकोटीदोषवर्जितम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—निष्कलंक आचरण वाले जिस देवेश ने मोक्षमार्ग में बढ़ने हेतु परम प्रकाश रूप तीनों ही कोटि अर्थात् विभाग में (आदि,

मध्य एवं अंत में) निर्दोष शास्त्रों का सृजन किया है। (उन्हें महादेव कहते हैं।) [५]

यस्य चाराधनोपायः, सदाज्ञाभ्यास एव हि।
यथाशक्ति विधानेन, नियमात्स फलप्रदः ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिनकी आराधना का एकमात्र उपाय (उनकी) सद्-आज्ञा का अभ्यास ही है। यदि कोई महानुभाव यथाशक्ति विधान से इनकी सद् आज्ञा का अभ्यास करे, तो वह नियमात् फलदायी होता है। (उन्हें महादेव कहते हैं) इन परम तारकों के शासन में आज्ञा का कितना महत्त्व है वह इस श्लोक से स्पष्ट होता है। कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य भगवान श्री हेमचन्द्रसूरीश्वर जी महाराज ने भी वीतराग स्तोत्र के उन्नीसवें प्रकाश के चतुर्थ श्लोक में फरमाया है—

वीतराग ! सपर्यातस्तवाज्ञापालनं परम् ।
आज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥

अर्थात्—हे वीतराग ! आपकी पूजा से भी आपकी आज्ञा का पालन श्रेष्ठ है। आराधी हुई आपकी आज्ञा की आराधना मोक्ष के लिये और विराधना संसार के लिये होती है। अर्थात् आज्ञा की आराधना मोक्ष की आराधना है और आज्ञा की विराधना संसार की आराधना—भवभ्रमण की अभिवृद्धि करने वाली है।

सुवैद्यवचनाद्यद्वद् व्याधेर्भवति संक्षयः ।
तद्वदेव हि तद्वाक्याद्, ध्रुवः संसारसंक्षयः ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम वैद्य के वचन से याने सुवैद्य के वचनानुसार आचरण करने से रोग का नाश होता है, वैसे ही महादेव के वचन से अर्थात् उनके वचन के अनुसार--उनकी आज्ञा के अनुसार वर्तन करने वाला निश्चय ही अपने संसार का क्षय करता है और उसके भव भ्रमण का अन्त हो जाता है।

एवम्भूताय शान्ताय, कृतकृत्याय धीमते।
महादेवाय सततं, सम्यग्भक्त्या नमोनमः ॥ ८ ॥

भावार्थ—उक्त विशिष्ट गुणगरिष्ठ, शान्त, कृत-कृत्य, बुद्धिमान महादेव को सम्यक् भक्ति से हमेशा नमस्कार हो। [८]

स्नानाष्टकम्

[२]

द्रव्यतो भावतश्चैव, द्विधा स्नानमुदाहृतम्।
बाह्यमाध्यात्मिकं चेति, तदन्यैः परिकीर्त्यते ॥ १ ॥

भावार्थ--स्नान दो प्रकार के हैं-(१) द्रव्य स्नान।(२) भाव स्नान। अन्य धर्ममतावलम्बियों ने भी इसी के अनुक्रमसे (१) बाह्य स्नान एवं (२) आध्यात्मिक स्नान कहा है। [१]

जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम्।
प्रायोऽन्यानुपरोधेन, द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥ २ ॥

भावार्थ—जलसे किया गया स्नान क्षणिक देहशुद्धि का कारण बनता है। वह जलस्नान प्रायः एक दूसरे नये मैल को रोकने में असमर्थ होने के कारण द्रव्य स्नान कहा गया है [२]

कृत्वेदं यो विधानेन, देवतातिथिपूजनम् ।
करोति मलिनारम्भी, तस्यैतदपि शोभनम् ॥ ३ ॥
भावशुद्धिनिमित्तत्वात्तथानुभवसिद्धितः ।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि, तदन्यगुणभावतः ॥ ४ ॥

भावार्थ—आरंभ समारंभी—पापकारी व्यापार करने वाला गृहस्थ विधिपूर्वक स्नान कर देवता-महादेव-तीर्थङ्कर, और अतिथि साधु-साध्वियों की पूजा एवं सत्कार करता है इसलिए गृहस्थ के लिये द्रव्यस्नान भी शोभायमान एवं लाभदायी है। यह अनुभव सिद्ध है कि वह द्रव्यस्नान भाव शुद्धि में निमित्तरूप बनता है एवं द्रव्यस्नान में थोड़ा दोष होने पर भी उससे (सम्यक्त्वशुद्धि, आज्ञा की परिपालना, उपकारिओं के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन प्रमुख) दूसरे गुणों का लाभ होता है—(३–४)

३,४ श्लोक के कारण यदि किसी को यह शंका हो कि "द्रव्यस्नान यदि शोभन है तो गृहस्थों के लिये ही क्यों कहा? साधु के लिये भी वह शोभन होना चाहिए।" इस शंका का समाधान पंचम श्लोक में बताते हैं।

अधिकारिवशाच्छास्त्रे धर्मसाधनसंस्थितिः ।
व्याधिप्रतिक्रियातुल्या विज्ञेया गुणदोषयोः ॥ ५ ॥

भावार्थ—रोगों की प्रतिक्रिया की जैसी व्यवस्था शास्त्रों में प्रतिपादित की गई है धर्म के साधनों की व्यवस्था उनके गुणदोषों के बारे में अधिकारी की अपेक्षा से वैसे ही जाननी चाहिये। इसका मतलब यह है कि :—जो द्रव्यस्नान गृहस्थ के लिये जिन-पूजा के कारण

शोभन है, वह शोभन होने पर पर भी सदोष होने के कारण साधुओं के लिए त्याज्य है। चूंकि गृहस्थ के संसारी होने के कारण उसके लिये द्रव्य एवं भाव ये दोनों पूजा में आवश्यक हैं। शास्त्रों की स्पष्ट, उद्घोषणा है कि द्रव्यपूजा भावपूजा का निमित्त कारण होने के कारण गृहस्थ के लिये अवश्यकरणीय रूप है। गृहस्थ के देश-विरति के आदि परिणाम को भी हम तब जान सकते हैं जबकि वह जिनपूजा करता हो। चूंकि जिन-पूजा में यह देशविरति श्रावक-जीवन का आद्य परिणाम है। अतः पाँच महाव्रतधारी साधु सर्वविरतिधर के अर्थात् सर्वत्यामी होने के कारण उनके लिये द्रव्यस्नान का सर्वतः त्याग है। चूंकि साधु द्रव्य-त्यागी है अतः मात्र भावपूजा के साधक हैं। जिनेश्वर देवों की आज्ञा भी शास्त्र में इसी प्रकार से बताई है कि :—साधु के लिये मात्र भावपूजा और श्रावक के लिये द्रव्यपूजा एवं भावपूजा यों दोनों ही अनिवार्य है। द्रव्यपूजा को छोड़ने वाला देशविरति-धर प्रभु-आज्ञा का विरोधक है--[६]

ध्यानाम्भसा तु जीवस्य सदा यच्छुद्धिकारणम्।
मलं कर्म समाश्रित्य भावस्नानं तदुच्यते ॥ ६ ॥

भावार्थ--जो स्नान ध्यानरूपी जलसे कर्मरूप मैल की अपेक्षा से अर्थात् कर्मरूपी मल को धोकर आत्मा की शुद्धि का कारण बनता है, उसे भावस्नान कहते हैं--[६].

ऋषीणामुत्तमं ह्येतन्निर्दिष्टं परमर्षिभिः।
हिंसादोषनिवृत्तानां व्रतशीलविवर्धनम् ॥ ७ ॥

भावार्थ--हिंसादोष से सर्वथा निवृत्त ऋषिओं के लिए व्रतनियम, और शील-समाधि की अभिवृद्धि करने वाला भावस्नान ही उत्तम है ऐसा मुनिश्रेष्ठों ने फरमाया है--[७].

स्नात्वाऽनेन यथायोगं निःशेषमलवर्जितः ।
भूयो न लिप्यते तेन स्नातकः परमार्थतः ॥ ८ ॥

भावार्थ—अधिकारानुसार द्रव्यस्नान एवं भावस्नान करके सम्पूर्ण कर्मरहित होने वाला वापिस कर्मों से बाँधा नहीं जाता, इसलिये ही वास्तविक दृष्टि से सच्चे अर्थ में स्नातक कहा जाता है--[८]

पूजाष्टकम्

[३]

अष्टपुष्पी समाख्याता स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
अशुद्धेतरभेदेन द्विधा तत्वार्थदर्शिभिः ॥ १ ॥

भावार्थ--तत्वदर्शियों ने--महान् ज्ञानियों ने अष्टपुष्पी पूजा दो प्रकार की कही है: (१) अशुद्ध, (२) शुद्ध । वह अनुक्रम से स्वर्ग एवं मोक्ष की साधनरूप हैं--[१].

शुद्धागमैर्यथालाभं प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः ।
स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि पुष्पैर्जात्यादिसम्भवैः ॥ २ ॥
अष्टापायविनिर्मुक्ततदुत्थगुणभूतये ।
दीयते देवदेवाय या साऽशुद्धेत्युदाहृता ॥ ३ ॥

भावार्थ--शुद्ध प्रामाणिक अर्थात् न्याय की रीति से प्राप्त किये हुए, ताजा, शुद्ध भाजन में रक्खे हुए, कम अथवा ज्यादा, जैसे मिले वैसे मालती आदि फूलों से आठ अपाय के यानी आठ कर्मों के नाश से उत्पन्न होने वाले अनन्त ज्ञानादि गुण वाले देवाधिदेव की जो पूजा की जाती है, उसे भावपूजा की अपेक्षा से निम्न कोटि की कहते हैं-[२-३]

सङ्कीर्णेषा स्वरूपेण द्रव्याद्भावप्रसक्तितः।
पुण्यबन्धनिमित्तत्वाद् विज्ञेया सर्वसाधनी ॥ ४ ॥

भावार्थ--स्वाभाविक रीति से ही पाप-मिश्रित यह अशुद्ध पूजा (पुष्पादि) द्रव्य द्वारा भाव को उत्पन्न करने वाली होने से और पुण्यबन्ध के निमित्त रूप होने से स्वर्ग की साधनरूप समझी जानी चाहिए--[४]

या पुनर्भावजैः पुष्पैः शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः।
परिपूर्णत्वतोऽम्लानैरत एव सुगन्धिभिः ॥ ५ ॥

भावार्थ--पुनः शास्त्राज्ञारूप गुण से (डोरी से) संजोये हुये अहिंसादिरूप भावपुष्प जो कि परिपूर्ण अर्थात् विकसित, दोष रहित होने के कारण हमेशा ताजा अर्थात् बिना कुम्हले और सुगंधी वाले होते हैं, उनके द्वारा जो अष्टपुष्पी पूजा होती हैं, वह 'शुद्ध पूजा' (भावपूजा) कहलाती है--[५]

अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसङ्गता।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥ ६ ॥

भावार्थ--अहिंसा, सत्य, अस्तेय अर्थात् अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, गुरुभक्ति, तप, और ज्ञान यह आठ भावपुष्प कहलाते हैं—[६]

एभिर्देवाधिदेवाय बहुमानपुरस्सरा ।
दीयते पालनाद्या तु सा वै शुद्धेत्युदाहृता ॥ ७ ॥

भावार्थ--इन आठ फूलों के यथार्थ पालन द्वारा बहुमाना-पूर्वक देवाधिदेव की जो पूजा होती है वह शुद्ध पूजा कहलाती है [७]

प्रशस्तो ह्यनया भावस्ततः कर्मक्षयो ध्रुवः ।
कर्मक्षयाच्च निर्वाणमत एषा सतां मता ॥ ८ ॥

भावार्थ--इस शुद्ध पूजा से अर्थात् प्रशस्त पूजा से भाव अर्थात् आत्मपरिणाम शुद्ध होते हैं. उस शुद्ध भाव से कर्मक्षय अवश्यंभावी बनता है-और कर्मक्षय से निर्वाण यानी मोक्ष मिलता है, इस कारण से ही सत्पुरुषों को भावपूजा अर्थात् शुद्ध पूजा मान्य है--[८]

—०—

अग्निकारिकाष्टकम्

[४]

कर्मेन्धनं समाश्रित्य दृढा सद्भावनाहुतिः ।
धर्मध्यानाग्निना कार्या दीक्षितेनाग्निकारिका ॥ १ ॥

भावार्थ---दीक्षित महात्मा को कर्मरूपी इन्धन, सद्भावनारूपी आहुति और धर्मध्यान रूप अग्नि से अग्निकारिका--(ज्ञान यज्ञ) करनी चाहिये अर्थात् ज्ञान ज्योति जगानी चाहिए—[१]

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता ज्ञानध्यानफलं च स।
शास्त्र उक्तो यतः सूत्रं शिवधर्मोत्तरे ह्यदः।' ॥ २ ॥

"पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण सम्पदः।
तपः पापविशुद्धयर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम्" ॥ ३ ॥

युग्मम्

भावार्थ--दीक्षा मोक्ष के लिए कही है और मोक्ष को भी शास्त्र में ज्ञानध्यान का फल बताया है; क्योंकि 'शिवधर्मोत्तर' नाम के शैव धर्मग्रन्थ के एक सूत्र में कहा गया है, "द्रव्यपूजा से विशाल साम्राज्य मिलता है, (द्रव्य) अग्नि-कार्य से समृद्धियाँ सुलभ बनती है; तप पाप की विशुद्धि के लिये है एवं ज्ञान एवं ध्यान मोक्षदायक हैं"--[२-३]

पापं च राज्यसम्पत्सु सम्भवत्यनघं ततः।
न तद्धेत्वोरुपादानमिति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥ ४ ॥

भावार्थ--"साम्राज्य एवं समृद्धि की उपस्थिति में पाप संभव हैं, इसलिये साम्राज्य एवं समृद्धि के हेतु रूप अग्निकारिका का सेवन अर्थात् आचरण निरवद्य (निर्दोष) नहीं है" ऐसा सम्यक् रीति से विचारना चाहिए-[४]

कदाचित किसी को यह शंका हो कि जैसे राज्य आदि से पाप का संभव है वैसे दान आदि गुणों का भी संभव है और उन दानादि गुणों से पाप का शोधन होता है, इस हेतु (द्रव्य) पूजा और (द्रव्य) अग्नि कारिका करनी चाहिए।

इसके समाधान हेतु अष्टककार महर्षि फरमाते हैं :--

विशुद्धिश्चास्य तपसा न तु दानादिनैव यत् ।
तदियं नान्यथा युक्ता तथा चोक्तं महात्मना ॥ ५ ॥
"धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यानीहा गरीयसी ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" ॥ ६ ॥
(युग्मम्)

भावार्थ—यह अग्निकारिका अन्यथा प्रकार से यानी भाव-अग्निकारिका से अन्य द्रव्य अग्निकारिका रूप से युक्त नहीं है, क्योंकि पाप की शुद्धि तप से होती है, दानादि से नहीं। इसका कारण यह है कि "दानेन भोगानाप्नोति" अर्थात् दान से भोगों की प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्र वचन है। महात्मा व्यास ऋषि ने भी महाभारत के वनपर्व में यही कहा है कि "धर्म के लिये धन प्राप्त करने की जिनकी इच्छा या प्रवृत्ति है, इससे तो धर्म के लिये धन ही नहीं प्राप्त करने की अर्थात् सर्वथा धन त्याग करने की उनकी इच्छा या प्रवृत्ति अधिक सुसंगत है; क्योंकि कीचड़ में पड़कर उसको धोने से उस कीचड़ से दूर रहना ही अधिक अच्छा है। [५-६]

मोक्षाध्वसेवया चैताः प्रायः शुभतरा भुवि ।
जायन्ते ह्यनपायिन्य इयं सच्छास्त्रसंस्थितिः ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुनः सम्यक् शास्त्रों में (सद् आगमों में) ऐसी व्यवस्था है कि (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप) मोक्षमार्ग के सेवन से प्राप्त होने वाली समृद्धि ज्यादा अच्छी-दोष रहित-शुभतर है। इसलिये तत्वतः भाव अग्निकारिका ही युक्त है। [७]

इष्टापूर्तं न मोक्षाङ्गं सकामस्योपवर्णितम् ।
अकामस्य पुनर्योक्ता सैव न्याय्याग्निकारिका ॥ ८ ॥

भावार्थ--'इष्टापूर्त' अर्थात् इष्ट एवं पूर्त्त ये दो प्रकार के दान सकामी के होने के कारण मोक्ष के अंग नहीं है, चूंकि सकामी का यानी अभ्युदय की इच्छावाले का है, ऐसा कहा गया है । निष्कामी यानी कामना वांछा या इच्छा रहित सत्पुरुषों के लिये तो ऊपर वर्णित भाव अग्नि-कारिका ही समीचीन है, मोक्षके अंग रूप हैं--[८]

--०--

भिक्षाष्टकम्

[५]

सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथाऽपरा ।
वृत्तिभिक्षा च तत्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता ॥ १ ॥

भावार्थ--तत्वज्ञ महापुरुषों ने भिक्षा तीन प्रकार की कही है; (१) सर्वसंपत्करी, (२) पौरुषघ्नी एवं (३) वृत्तिभिक्षा--[१]

यतिर्ध्यानादियुक्तो यो गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः ।
सदानारम्भिणस्तस्य सर्वसम्पत्करी मता ॥ २ ॥
वृद्धाद्यर्थमसङ्गस्य भ्रमरोपमयाटतः ।
गृहिदेहोपकाराय विहितेति शुभाशयात् ॥ ३ ॥
युग्मम्

भावार्थ--जो यति (पाँच महाव्रत धारी साधु-महात्मा) ध्यानादि कार्य में रत हो, गुरु आज्ञापालन में तत्पर हो, तथोक्त अनारंभी-निर्दोष प्रवृत्तिवाला हो, ममत्व-रहित हो, वृद्ध (गुरुजन) आदि के लिए, एवं गृहस्थ के और अपने उपकार हेतु ऐसे शुभ आशय से भौरों की भाँति भिक्षाटन करने वालों के लिये कही हुई अर्थात् उपदेशित भिक्षा को 'सर्वसंपत्करी' नामक भिक्षा कहते हैं। श्रुतकेवली आचार्य भगवान् श्री शय्यम्भवसूरीश्वरजी महाराज ने भी दशवैकालिक सूत्र में साधु के लिये भिक्षा-पद्धति बताते हुए फरमाया है--जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं। ण य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पगं ॥ २ ॥ एमए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो। विहंगभाव पुष्फेसु दाण भत्तेसणे रया ॥ ३ ॥ वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ। अहागडेसु रीयंते, पुष्फेसु भमरा जहा ॥ ४ ॥

महुकार समाबुद्धा जे भवन्ति आणिस्सिया।
नाणापिंडरया देता तेण वुच्चन्ति साहुणो त्तिबेमि ॥ ५ ॥

भावार्थ--जैसे भौंरा वृक्ष के फूलों में से रस को पीता है और फूल को कुछ भी कष्ट नहीं पहुँचाता है और इस प्रकार फूल को पीडित नहीं करता हुआ अपनी आत्मा को सन्तुष्ट कर लेता है ॥ २ ॥ इसी प्रकार लोक में ये जो द्रव्य एवं भावपरिग्रह से मुक्त श्रमण-तपस्वी साधु हैं, वे फूलों के भ्रमर के समान दाता द्वारा दिये हुये आहारादि की गवेषणा में रत रहते हैं। ॥ ३॥ गुरु महाराज के शिष्य प्रतिज्ञा करते हैं--जिस प्रकार फूलों से भौंरे अपना निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार हम साधु भी गृहस्थों द्वारा अपने निज के लिये बनाये हुये आहारादि की भिक्षा ग्रहण करेंगे, जिससे किसी जीव को कष्ट न पहुँचे।

॥ ४ ॥ जो तत्त्वज्ञ हैं, भौंरों के समान फूलों के प्रतिबन्ध से रहित है, अनेक घरों से थोड़ा २ आहारादि लेने में संतुष्ट हैं, तथा इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं वे साधु कहलाते हैं। ॥ ५ ॥ दशवैकालिक सूत्र प्रथम अध्ययन २,३,४,५--[२-३]

प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो यस्तद्विरोधेन वर्तते।
असदारम्भिणस्तस्य पौरुषघ्नीति कीर्तिता ॥ ४ ॥

भावार्थ--जो प्रव्रजित भिक्षु (दीक्षित साधु) प्रव्रज्या-दीक्षा के विरोधी आचरण करने वाला हो अर्थात् जिसका आचरण संयम विरोधी अर्थात् संयमघातक हो, ऐसे असद् आरंभकारी अर्थात् पापकारी आचरण वाले व्यक्ति की भिक्षा को 'पौरुषघ्नी' भिक्षा कहते हैं-[४-]

धर्मलाघवकृन्मूढो, भिक्षयोदरपूरणम्।
करोति दैन्यात्पीनाङ्गः पौरुषं हन्ति केवलम् ॥ ५ ॥

भावार्थ--धर्म की लघुता यानी निन्दा करने वाला, मूढ़ और स्थूल शरीर वाला जो साधु दीनतापूर्वक भिक्षा से अपनी उदरपूर्ति-उदरभरण करता है उससे वह मात्र पुरुषार्थ का नाश करता है--[५]

निःस्वान्धपङ्गवो ये तु न शक्ता वै क्रियान्तरे।
भिक्षामटन्ति वृत्यर्थं वृत्तिभिक्षेयमुच्यते ॥ ६ ॥

भावार्थ--भिक्षा के अतिरिक्त दूसरी क्रिया करने में असमर्थ, गरीब, अन्धे और पङ्गु मनुष्य उदर निर्वाह हेतु जो भिक्षा माँगते हैं उसे 'वृत्ति-भिक्षा' कहते हैं--[६]

नाति दुष्टिाऽपि चामीषामेषा स्यान्नह्यमी तथा ।
अनुकम्पा निमित्तत्वाद् धर्मलाघवकारिणः ॥ ७ ॥

भावार्थ--ऊपर कथित गरीब, अन्धे, पंगु, दीन आदि मनुष्यों की वृत्तिभिक्षा न अतिदुष्ट है और न प्रशंसनीय । वे लोग अनुकम्पा करने योग्य होने के कारण पौरुषघ्नी भिक्षा करने वालों की भांति धर्म की लघुता-अर्थात् निंदा करने वाले नहीं बनते हैं--[७].

दातॄणामपि चैतेभ्यः फलं क्षेत्रानुसारतः ।
विज्ञेयमाशयाद्वापि स विशुद्धः फलप्रदः ॥ ८ ॥

भावार्थ--उक्त तीनों प्रकार के भिक्षुओं को भिक्षा देने वाले दाताओं को क्षेत्र अर्थात्-पात्र के अनुसार भी फल मिलता है; अथवा दाता को अपने निज के आशय के अनुसार फल मिलता है-और अनेक विध आशयों में विशुद्ध आशय ही फलदायी होता है । इस श्लोक द्वारा अष्टककार महर्षि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि दान कभी भी निष्फल नहीं होता है । दाता को, जिसे दान दिया जाता है, उस पात्र को ही देखना चाहिये । पात्र की योग्यता को समझकर तदनुसार प्रदत्त दान यथोचित फलदायक होता है । दान तो भारतीय संस्कृति की प्राणरूपा श्रमण-संस्कृति का सर्वप्रथम आचरण एवं सिद्धान्त है; उसको कोई जैन कभी नहीं भूल सकता । इस गुण की जीवन में अनिवार्य रूप से आवश्यकता है । इस दान रूपी गुण के कारण जीव का ममत्व घटता है, दृष्टि में विशालता आती है और मैत्री भाव का विकास होता है । इन कारणों से दान गुण जीवन में अवश्य प्रयोजनीय है—[८].

सर्वसम्पत्करी भिक्षाष्टकम्

[६]

अकृतोऽकारितश्चान्यैरसंकल्पित एव च।
यतेः पिण्डः समाख्यातो विशुद्धः शुद्धिकारकः ॥ १ ॥

भावार्थ—स्वयं किया हुआ, दूसरे किसी से करवाया हुआ अथवा जो किसी के लिये भी संकल्प किया हुआ न हो (अर्थात् किसी को जिसका उपलक्ष्य न बनाया गया हो) ऐसा पिंड अर्थात् खाद्य पदार्थ (उपलक्षण से शयन, आसन आदि भी) साधुओं के लिये विशुद्ध—निरवद्य और शुद्धिकारक कहलाता है—[१].

नीचे दर्शित चार श्लोकों में (अन्यमतावलंबी) वादी शुद्ध पिंड की प्राप्ति की अशक्यता बताते हैं। वे शंका करते हैं :—

यो न संकल्पितः पूर्वं हेयबुद्धया कथं नु तम्।
ददाति कश्चिदेवं च, स विशुद्धो वृथोदितम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जिसमें पहले देने की बुद्धि की कल्पना न की हो ऐसा, पिंड कोई भी मनुष्य कैसे दे सकेगा ? अर्थात् दे ही नहीं सकेगा, इससे एक भी पिंड असंकल्पित नहीं हो सकता अतः वह पिंड शुद्ध है, ऐसा कथन मिथ्या है—[२].

न चैवं सद्गृहस्थानां भिक्षा ग्राह्या गृहेषु यत्।
स्वपरार्थं तु ते यत्नं कुर्वते नान्यथा क्वचित् ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुनः इस रीति से यानी असंकल्पित पिंड ही लेने की दृष्टि से तो गृहस्थों के घर में भिक्षा ही नहीं ले सकेंगे, क्योंकि गृहस्थ तो अपने और पर अर्थात्—अतिथि आदि दोनों के लिये रसोई आदि बनाता है। वह अन्यथा रीति से—मात्र अपने लिये कभी नहीं बनाता—[३]

संकल्पनं विशेषेण यत्रासौ दुष्ट इत्यपि।
परिहारो न सम्यक्स्याद्यावदर्थिकवादिनः ॥ ४ ॥

भावार्थ—'विशेष रूप से-अर्थात् अमुक साधु के लिये ही यह पिंड है ऐसा यदि पिंड में संकल्प किया हो तो वह दुष्ट है,' ऐसा तुम्हारा परिहार भी उचित नहीं है, क्योंकि जितने भिक्षार्थी हैं उन सभी के लिये अर्थात् समस्त भिक्षुक वर्ग के लिये बनाये हुये पिंड को भी तुम त्याज्य कहते हो, अर्थात् वह भी तुम्हारे लिये त्याज्य है-[४]

विषयो वाऽस्य वक्तव्यः पुण्यार्थं प्रकृतस्य च।
असम्भवाभिधानात्स्यादाप्तस्यानाप्तताऽन्यथा ॥ ५ ॥

भावार्थ—अथवा इस यावदर्थिक पिंड का विषय-संबंध (जिसके हेतु बनाया हुआ, यह बताना चाहिये। इतना ही नहीं पर पुण्य के हेतु बनाये हुए प्रकृत अर्थात् सामने आये हुए पिंडका भी)-अर्थ बताना चाहिये; अन्यथा असंकलिपत पिंड के सर्वथा असम्भाव्य होने से उससे तुम्हारे आप्त की अर्थात् सर्वज्ञ की असर्वज्ञता सिद्ध होगी—[५].

अन्य मतावलंबियों की शंका का निरसन अर्थात् समाधान, करने हेतु आचार्य तीन श्लोकों द्वारा उत्तर देते हैं—

विभिन्नं देयमाश्रित्य स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि ।
संकल्पनं क्रियाकाले तद्दुष्टं विषयोऽनयोः ॥ ६ ॥

भावार्थ—अपने काम में लेने योग्य वस्तु से दूसरों को देने योग्य वस्तु अलग है' ऐसा संकल्प जिस वस्तु में, उसके बनाते समय करने में आता है, वह दुष्ट है; और यह ही उनका अर्थात् यावदर्थिक एवं प्रकृत पिंडका विषय सम्बन्ध या अर्थ है—[६].

स्वोचिते तु यदारम्भे तथा संकल्पनं क्वचित् ।
न दुष्टं शुभभावत्वात् तच्छुद्धापरयोगवत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—अपने योग्य (पाकादि—रसवती) व्यापार अर्थात् प्रवृत्ति करते समय कभी कभी तथाप्रकारक-साधु को देने रूप जो संकल्प होता है, वह दूसरे (मुनिवंदन आदि) शुद्ध व्यापार अर्थात् प्रवृत्ति की भाँति चित्त की विशुद्धि—रूप होने से शुद्ध अर्थात् निर्दुष्ट है—[७].

दृष्टोऽसंकल्पितस्यापि लाभ एवमसम्भवः ।
नोक्त इत्याप्तता सिद्धिर्यतिधर्मोऽतिदुष्करः ॥ ८ ॥

भावार्थ—पुनः असंकलित यानी जो साधु हेतु नहीं बनाया हुआ ऐसे (रात को बनाये हुये या सूतक आदि प्रसंगों पर पकाये हुये) पिंड की प्राप्ति भी दीखती है, उससे तुम्हारे कथनानुसार असंभवित पिंड का आप्तों अर्थात् सर्वज्ञों ने उपदेश नहीं दिया है। इसलिये ही सर्वज्ञ की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। अलबत्ता—ऐसे असंकल्पित पिंड की प्राप्ति के प्रसंग कुछ ही होते हैं। इसलिये ही कहा है कि यति धर्म अति दुष्कर है—[८].

पंचमहाव्रतधारी, संयमी, साधु, महात्मा प्रच्छन्न अर्थात् गुप्त भोजन क्यों करते हैं, इसका कारण बताते हैं।

—०—

प्रच्छन्नभोजनाष्टकम्

[७]

सर्वारम्भनिवृत्तस्य मुमुक्षोर्भावितात्मनः।
पुण्यादिपरिहाराय मतं प्रच्छन्नभोजनम् ॥ १ ॥

भावार्थ—सभी आरंभ समारंभ से निवृत्त—पापकारी प्रवृत्तियों से निवृत्त, पुनीत अन्तःकरण वाले, मुमुक्षु भावितात्मा महानुभाव के लिए पुण्यादि परिहार हेतु प्रच्छन्न–गुप्त भोजन उचित माना जाता है—[१]

भुञ्जानं वीक्ष्य दीनादिर्याचते क्षुत्प्रपीडितः।
तस्यानुकम्पया दाने पुण्यबन्धः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

भावार्थ—भूख के दुःख से संत्रस्त—दुःखित दीन—अनाथ आदि लोग खानेवाले को देखकर उसके पास भिक्षा माँगते हैं। उस समय दीनों पर अनुकम्पा से यदि खाने वाले संयमी महात्मा उन दीनों को दान दें, तो दाता को पुण्यबन्ध होता है—[२].

भवहेतुत्वतश्चायं नेष्यते मुक्तिवादिनाम्।
पुण्यापुण्यक्षयान्मुक्तिरिति शास्त्रव्यवस्थितेः ॥ ३ ॥

भावार्थ--पुण्यबन्ध भव अर्थात् संसार का कारण होता है अतः वह मोक्षाभिलाषी संयमियों के लिये इष्ट नहीं है। शास्त्रों में कहा है कि पुण्य और पाप के क्षय से मोक्ष मिलता है। शास्त्रों में कहा गया है कि पुण्य स्वर्ण की जंजीर सा और पाप लोहे की जंजीर जैसा है। मोक्ष में जाने के लिए दोनों ही जंजीरें बन्धन रूप हैं, दोनों ही धातु भार रूप हैं। संसारी गृहस्थों को स्वर्ण पसन्द है और लोहा नापसन्द, पर मोक्षमार्ग में दोनों ही बाधक हैं।--[३].

प्रायो नचानुकम्पावांस्तस्यादत्वा कदाचन।
तथाविधस्वभावत्वाच्छक्नोति सुखमासितुम् ॥ ४ ॥

भावार्थ--साथ-साथ अनुकम्पा वाला व्यक्ति क्षुधित अर्थात् भूखे को दिये बिना प्रायः सुख से रह नहीं सकता; क्योंकि अनुकम्पा वाले महानु॰ भावों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे दूसरे दीनों का दुःख देख नहीं सकते--[४].

अदानेऽपि च दीनादेरप्रीतिर्जायते ध्रुवम्।
ततोऽपि शासनद्वेषस्ततः कुगतिसन्ततिः ॥ ५ ॥

भावार्थ--पुनः दीन, अनाथ, दुःखी आदि माँगनेवालों को न देने से वे अवश्य अप्रसन्न होते हैं और उस अप्रसन्नता के कारण शासन-धर्म के प्रति द्वेष पैदा होता है, उस द्वेष के परिणाम से उनकी दुर्गति-परम्परा चलती है--[५].

निमित्तभावतस्तस्य सत्युपाये प्रमादतः।
शास्त्रार्थबाधनेनेह पापबन्ध उदाहृतः ॥ ६ ॥

भावार्थ–ऊपर पुण्य या पापबन्ध से बचने का उपाय प्रच्छन्न अर्थात् गुप्त भोजन बताया गया है। प्रमादवश प्रकट भोजन आदि में अप्रीति, शासन-द्वेष, धर्म का अभाव आदि परिणाम होते हैं। अतः शास्त्र विधान का भंग होने के कारण प्रकटभोजी साधु को पाप का बन्धन होता है, ऐसा कहा गया है—[६].

शास्त्रार्थश्च प्रयत्नेन यथाशक्ति मुमुक्षुणा।
अन्यव्यापारशून्येन कर्तव्यः सर्वदेव हि ॥ ७ ॥

भावार्थ—मुमुक्षुओं को अन्य प्रवृत्ति से शून्य होकर यथाशक्ति शास्त्रार्थ अर्थात् आगमों का यथाविधि वाचन, मनन आदि करना चाहिये—[७].

एवं ह्युभयथाप्येतद्दुष्टं प्रकटभोजनम्।
यस्मान्निदर्शितं शास्त्रे ततस्त्यागोऽस्य युक्तिमान् ॥ ८ ॥

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकट भोजन, दोनों प्रकार से यानी देने और न देने, दोनों प्रकार से दोष युक्त हैं, ऐसा शास्त्र में बताया है, इस हेतु उसका त्याग ही उचित एवं युक्ति-युक्त है—[८].

—०—

प्रत्याख्यानाष्टकम्

[८]

द्रव्यतो भावतश्चैव प्रत्याख्यानं द्विधा मतम्।
अपेक्षादिकृतं ह्याद्यमतोऽन्यच्चरमं मतम् ॥ १ ॥

भावार्थ--प्रत्याख्यान--(पच्चक्खाण) यानी त्याग दो प्रकार का माना गया है:-

(१) द्रव्य प्रत्याख्यान (२) भाव प्रत्याख्यान।

पहला द्रव्य प्रत्याख्यान किसी प्रकार की अपेक्षा यानी अविधि, अपरिणाम, राग-द्वेष आदि कारणों से किया गया होता है; जबकि दूसरा--भावप्रत्याख्यान प्रथम से सर्वथा उलटा अर्थात् अपेक्षादि से रहित मात्र त्याग-बुद्धि से ही होता है [१].

अपेक्षा चाविधिश्चैवापरिणामस्तथैव च।
प्रत्याख्यानस्य विघ्नास्तु वीर्याभावस्तथापरः ॥ २ ॥

भावार्थ--अपेक्षा, अविधि, अपरिणाम अर्थात् अश्रद्धा तथा वीर्या भाव अर्थात् परिणाम होने पर भी शक्ति अर्थात् उल्लास अथवा प्रयत्न का अभाव, ये सभी भाव-प्रत्याख्यान के विघ्न हैं क्योंकि अपेक्षा आदि से युक्त सभी प्रत्याख्यान द्रव्यप्रत्याख्यान रूप होते हैं--[२]

लब्ध्याद्यपेक्षया ह्येतद्भव्यानामपि क्वचित्।
श्रूयते न तत्किञ्चिदित्यपेक्षाऽत्र निन्दिता ॥ ३ ॥

भावार्थ—लब्धि अर्थात् आर्थिक लाभ आदि का अपेक्षापूर्वक प्रत्याख्यान तो अभव्यों को भी कभी-कभी हो जाता है, ऐसा आगम वचन है, पर वह तुच्छ एवं अकिंचित्कर है; इस कारण से प्रत्याख्यान के समय किसी प्रकार की अपेक्षा अर्थात् आकांक्षा निन्दनीय है--[३.]

यथैवाविधिना लोके न विद्याग्रहणादि यत्।
विपर्ययफलत्वेन तथेदमपि भाव्यताम् ॥ ४ ॥

भावार्थ--अविधिपूर्वक ग्रहण की हुई विद्या (मंत्र, तंत्र) आदि विपरीत फल देने वाले होने से लोक में जिस प्रकार उनका ग्रहण सम्भव नहीं माना जाता अर्थात् अगृहीतव्य कहलाता है, वैसे ही अविधि से ग्रहण किये हुये प्रत्याख्यान को भी अप्रत्याख्यान रूप ही अर्थात् द्रव्य प्रत्याख्यान ही समझना चाहिए क्योंकि वह मोक्षरूपी सम्यक् फल नहीं देता–[४]

अक्षयोपशमात्त्यागपरिणामे तथाऽसति ।
जिनाज्ञाभक्तिसंवेगवैकल्यादेतदप्यसत् ॥ ५ ॥

भावार्थ--दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के अभाव से जिनेश्वर देवों के आगमों के प्रति श्रद्धा पूर्वक बहुमान और संवेग नहीं होते और श्रद्धा के अभाव में त्यागजन्य सम्यक् परिणाम--अपरिणाम जन्य द्रव्य प्रत्याख्यान भी अकिंचित्कर--बेकार है--[५].

उदग्रवीर्यविरहात क्लिष्टकर्मोदयेन यत् ।
बाध्यते तदपि द्रव्यप्रत्याख्यानं प्रकीर्तितम् ॥ ६ ॥

भावार्थ–क्लिष्ट अर्थात् गाढ अथवा दुष्ट कर्मोदय के कारण उत्कटवीर्य-अर्थात् तीव्र शक्ति का अभाव रहने से प्रत्याख्यान खंडित होजाता है। उस प्रत्याख्यान को भी द्रव्य--प्रत्याख्यान कहते हैं--[६].

एतद्विपर्ययाद्भावप्रत्याख्यानं जिनोदितम् ।
सम्यक्चारित्ररूपत्वान्नियमान्मुक्तिसाधनम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—दूसरा भाव प्रत्याख्यान सम्यक् चारित्ररूप होने से निश्चय ही मोक्षदायक है, ऐसा जिनेश्वर भगवानों ने कहा है; क्योंकि यह द्रव्य-प्रत्याख्यान से विपरीत रूप है—[७].

जिनोक्तमिति सद्भक्त्या ग्रहणे द्रव्यतोऽप्यदः ।
बाध्यमानं भवेद्भावप्रत्याख्यानस्य कारणम् ॥ ८ ॥

भावार्थ--'जिनेश्वर देव ने फरमाया है' ऐसे सद्भक्तियुक्त खंडित होने वाले प्रत्याख्यान को द्रव्यरूप से यदि ग्रहण किया जाय तो भी वह भाव-प्रत्याख्यान का कारण बनता हैं। चूंकि इसके साथ जिनों की आज्ञापालन का ध्येय होता है, अतः इसको द्रव्य प्रत्याख्यान जानकर ग्रहण करने के साथ 'जिनकथित हैं' ऐसा ध्यान अवश्य रहना चाहिये-[८].

ज्ञानाष्टकम्

[६]

विषयप्रतिभासं चात्मपरिणतिमत्तथा ।
तत्त्वसंवेदनं चैव ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥ १ ॥

भावार्थ—महर्षिओं ने ज्ञान तीन प्रकार का कहा है :-

(१) विषयप्रतिभास रूप
(२) आत्मपरिणतिमत् और
(३) तत्त्वसंवेदन रूप--[१].

विषकण्टकरत्नादौ बालादिप्रतिभासवत् ।
विषयप्रतिभासं स्यात् तद्धेयत्वाद्यवेदकम् ॥ २ ॥

भावार्थ--जिस प्रकार बाल जीवों को जहर (विष), रत्न, कांटे आदि का मात्र ऊपर-ऊपर स्थूल ज्ञान होता है, वैसे ही वस्तु में रहे हुए हेय, उपादेय आदि गुणों के भान से रहित वस्तु के सामान्य ज्ञान को प्रतिभासरूप ज्ञान कहते हैं--[२].

निरपेक्षप्रवृत्त्यादिलिङ्गमेतदुदाहृतम् ।
अज्ञानावरणापायं महापायनिबन्धनम् ॥ ३ ॥

भावार्थ--यह विषय-प्रतिभास ज्ञान निरपेक्ष अर्थात् अविचारी प्रवृत्तिरूप बाह्यचिह्न वाला है। इसे अज्ञानावरणीय कर्म के अपाय से अर्थात् क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला एवं महा अनर्थ का कारण भूत कहा गया है--[३].

पातादिपरतन्त्रस्य तद्दोषादावसंशयम् ।
अनर्थाद्याप्तियुक्तं चात्मपरिणतिमन्मतम् ॥ ४ ॥

भावार्थ--सद्गति में होने वाले पात अर्थात् राग-द्वेष आदि के वश में होने वाले मनुष्य के, पात आदि गुणदोष जानने में संशय एवं विपर्यय के विना अर्थात् यथार्थ रीति से जनाने वाले एवं हानि लाभ की प्राप्ति कराने वाले ज्ञान को आत्मपरिणतिमत् ज्ञान माना गया है-[४].

तथाविधप्रवृत्त्यादिव्यङ्ग्यं सदनुबन्धि च ।
ज्ञानावरणह्रासोत्थं प्रायो वैराग्यकारणम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुनः यह आत्मपरिणतिमत् ज्ञान सम्यक् प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप से प्रकट होने वाला, शुभ अनुबन्ध अर्थात् शुभ परिणाम-परम्परा

वाला, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला तथा प्राय: वैराग्य का कारण रूप माना गया है—[५].

स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य तद्धयत्वादिनिश्चयम् ।
तत्त्वसंवेदनं सम्यग् यथाशक्ति फलप्रदम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—तीसरा तत्त्वसंवेदन ज्ञान हेय अर्थात् त्याग करने योग्य, उपादेय अर्थात् उपार्जन करने योग्य एवं उपेक्षणीय वस्तुका निश्चय कराने वाला, तथा आत्मा की शक्ति के अनुसार सम्यक्-चारित्र एवं मोक्षरूप सम्यक् फल का देने वाला हैं। यह ज्ञान स्वस्थ वृत्ति वाले प्रशान्त महानुभाव को होता है—[६].

न्याय्यादौ शुद्धवृत्त्यादिगम्यमेतत्प्रकीर्तितम् ।
सज्ज्ञानावरणापायं महोदयनिबन्धनम् ॥ ७॥

भावार्थ—यह तत्त्वसंवेदन ज्ञान नीति-व्यवहार आदि में शुद्ध वृत्ति अर्थात् आचरण आदि द्वारा प्रकट रूप से स्पष्ट दीखता है, तथा सद् मोक्ष साधक ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमजन्य, महोदय-मोक्षका का कारण रूप है, ऐसा तत्त्वसंवेदकों ने कहा है--[७].

एतस्मिन्सततं यत्नः कुग्रहत्त्यागतो भृशम् ।
मार्गश्रद्धादिभावेन कार्य आगमतत्परैः ॥ ८ ॥

भावार्थ--अत: शास्त्रश्रद्धावानों को कदाग्रह का त्याग करके, मोक्ष मार्ग में श्रद्धा (बहुमान-ज्ञान-आचरण) आदि भावपूर्वक तत्त्वसंवेदन ज्ञान हेतु सदैव प्रयत्नशील होना चाहिये--[८.]

इस अष्टक द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि--पहला विषय प्रतिभास ज्ञान मिथात्वसंयुक्त हैं, दूसरा आत्म-परिणतिमत ज्ञान संयम–सर्वविरति ग्रहण न करने वाले सम्यक् दृष्टि आत्माओं के लिये सम्यक्-ज्ञानरूप है क्योंकि पंचम श्लोक में इसे वैराग्य का कारण भी बताया है और तीसरा तत्वसंवेदन ज्ञान यथाशक्ति चरित्र-संयम-सर्वविरति-चारित्र अंगीकार करने वाले श्रावक से लगाकर मोक्ष जाने वाले साधुओं तक के विशिष्ट सम्यक् ज्ञान रूप है।

--०--

वैराग्याष्टकम्

[१०]

आर्त्तध्यानाख्यमेकं स्यान्मोहगर्भं तथाऽपरम्।
सज्ज्ञानसङ्गतं चेति वैराग्यं त्रिविधं स्मृतम् ॥ १ ॥

भावार्थ--वैराग्य तीन प्रकार का है। (१) आर्त्तध्यान नामक वैराग्य (२) मोहगर्भित वैराग्य (३) सद्ज्ञान युक्त वैराग्य।

इष्टेतरवियोगादिनिमित्तं प्रायशो हि यत्।
यथाशक्त्यपि हेयादावप्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥ २ ॥
उद्वेगकृद्विषादाढ्यमात्मघातादिकारणम्।
आर्त्तध्यानं ह्यदो मुख्यं वैराग्यं लोकतो मतम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो प्रायः इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के निमित्त से उत्पन्न होता है, जो यथाशक्ति हेय या उपादेय का क्रमशः त्याग

या अंगीकार—स्वीकार नहीं करता, जो उद्वेग उत्पन्न करने वाला है, जो विषाद अर्थात् दीनता से परिपूर्ण एवं आत्मघात आदि में कारण भूत है, वह वस्तुतः आर्त्तध्यान ही है, फिर भी लौकिक दृष्टि से वह वैराग्य कहलाया है। इसीलिए प्रथम आर्त्तध्यान वैराग्य कहा है। शास्त्रों में इस आर्त्तध्यान वैराग्य को दुःख गर्भित वैराग्य भी कहा है—[२-३].

एको नित्यस्तथाऽबद्धः क्षय्यसद्वेह सर्वथा।
आत्मेति निश्चयाद्भूयो भवनैर्गुण्यदर्शनात् ॥ ४ ॥
तत्त्यागायोपशान्तस्य सद्वृत्तस्यापि भावतः।
वैराग्यं तद्गतं यत्तान्मोहगर्भमुदाहृतम् ॥ ५ ॥

भावार्थ--आत्मा एक ही है, अथवा आत्मा नित्य ही है, अथवा अबद्ध ही है, अथवा क्षणिक ही है, अथवा असद्रूप ही है, ऐसे निश्चय द्वारा अनेक बार संसार की असारता देखने से संसारत्यागहेतु निगृहीत इन्द्रियों वाले साधुचरित पुरुषों को भाव से भवविषयक जो वैराग्य होता है वह मोहगर्भित अर्थात् अज्ञानजन्य वैराग्य कहा जाता है-[४-५]

भूयांसो नामिनो बद्धा बाह्येनेच्छादिना ह्यमी।
आत्मानस्तद्वशात्कष्टं भवे तिष्ठन्ति दारुणे ॥ ६ ॥
एवं विज्ञाय तत्त्यागविधिस्त्यागश्च सर्वथा।
वैराग्यमाहुः सज्ज्ञानसङ्गतं तत्त्वदर्शिनः ॥ ७ ॥
युग्मम्

भावार्थ—नाम-पर्याय परिणाम वाले अर्थात् अपने स्वरूप का त्याग किये बिना पर्याय रूप से उत्पन्न एवं नष्ट होने के स्वभाव वाले, बाह्य

(बाह्री) इच्छा आदि से बद्ध अर्थात् जकड़ी हुई बहुत सी आत्माएँ इच्छाधीन (परवश) हो जाने के कारण दारुण (भयंकर) दुःख भरे संसार में दुःखपूर्वक भटकती हैं ऐसा जानकर संसार के त्याग की क्रिया तथा उसके सर्वथा त्याग को तत्त्वज्ञ पुरुषों ने सद्ज्ञान युक्त वैराग्य कहा है—[६–७].

एतत्तात्त्वपरिज्ञानान्नियमेनोपजायते ।
यतोऽतः साधनं सिद्धेरेतदेवोदितं जिनैः ॥ ८ ॥

भावार्थ—क्योंकि यह तीसरा सद्ज्ञानयुक्त वैराग्य तत्त्वज्ञान द्वारा नियम से उत्पन्न हो जाता है इसलिए भगवान श्री जिनेश्वर देवों ने इसी वैराग्य को मोक्ष का साधन कहा है। प्रथम विषय प्रतिभासरूप वैराग्य इष्टवियोग एवं अनिष्ट योग जन्य दुःख से भरा है, दूसरा मोहगर्भित वैराग्य संसार की असारता पर खड़ा है। आखिरकार प्रथम एवं दूसरा वैराग्य जब तक तत्त्वज्ञानजन्य ज्ञानगर्भित तृतीय वैराग्य में परिणत नहीं होते तब तक वे दोनों वैराग्य कार्य-सिद्धि के कारण नहीं हैं। मात्र ज्ञानगर्भित वैराग्य ही मोक्ष का साधन इसीलिए कहा गया है कि वह दृढ़तापूर्वक तत्त्वज्ञान पर निर्भर है—[८].

—•—

तपोऽष्टकम्

[११]

दुःखात्मकं तपः केचिन्मन्यन्ते तन्न युक्तिमत् ।
कर्मोदयस्वरूपत्वाद् बलीवर्दादिदुःखवत् ॥ १ ॥

भावार्थ—तपश्चर्या के बारे में संसार में अनेक विचारधाराएँ हैं, अनेक शंकाएँ भी हैं, उन शंकाओं को ग्रन्थकार स्वयं बताते हैं। इस अष्टक में प्रथम ४ श्लोक शंका के हैं और उसके बाद के ४ श्लोकों में शंका का समाधान है। कई लोगों की मान्यता है कि बैल के दुःख की भांति तप भी कर्मोदय रूप (कर्मफल रूप) होने के कारण दुःखात्मक है, इसलिए तप को मोक्ष का साधन रूप कहना युक्तिसंगत नहीं है—[१]

सर्व एव च दुःख्येवं तपस्वी सम्प्रसज्यते।
विशिष्टस्तद्विशेषेण सुधनेन धनी यथा ॥ २ ॥

भावार्थ—पुनः सब प्राणी दुःखी हैं और तप भी जैसा कि ऊपर के श्लोक में बताया है, दुःखात्मक हैं, इस कारण से जिस प्रकार विपुल धन मनुष्य धनवान कहलाता है उसी प्रकार से विशेष दुःख होने के कारण मनुष्य विशिष्ट तपस्वी कहलायेगा—[२]

महातपस्विनश्चैवं त्वन्नीत्या नारकादयः।
शमसौख्यप्रधानत्वाद्योगिनस्त्वतपस्विनः ॥ ३ ॥

भावार्थ--इससे उपर्युक्त नीति (न्याय अथवा मान्यता) के अनुसार नारक जीव आदि महातपस्वी कहलायेंगे, और योगीजन अतपस्वी कहलायेंगे क्योंकि वे समता रूप विशिष्ट सुखवाले अर्थात् अदुःखी हैं--[३]

युक्त्यागमबहिर्भूतमतस्त्याज्यमिदं बुधैः।
अशस्तध्यानजननात् प्राय आत्मापकारकम् ॥ ४ ॥

भावार्थ--ऊपर कथित कारणों और आगम क्षेत्र बाहय एवं दुर्ध्यान उत्पन्न करने वाला होने से आत्मा का अपकार (अहित) करने वाला यह तप बुद्धिमान पुरुषों को छोड़ देना चाहिए--[४]

अब ग्रन्थकार महर्षि उक्त शंकाओं का निरसन आगे लिखे ४ श्लोकों द्वारा करते हैं।

मन इन्द्रिययोगानामहानिश्चोदिता जिनैः।
यतोऽत्र तत्कथं त्वस्य युक्ता स्याद् दुःखरूपता ? ॥ ५ ॥

भावार्थ--परमतारक भगवान श्री जिनेश्वर देवों ने प्रतिपादित किया है कि तप द्वारा मन, इन्द्रिय और योग की अहानि अर्थात् रक्षा होती है। इस जिन-वचन से विचार करें तो तप की दुःखरूपता कैसे सिद्ध हो सकती है ? अर्थात् नहीं सिद्ध हो सकती--[५]

यापि चानशनादिभ्यः कायपीडा मनाक् क्वचित्।
व्याधिक्रियासमा सापि नेष्टसिद्धयात्र बाधनी ॥ ६ ॥

भावार्थ--अनशन (उपवास) आदि द्वारा कभी-कभी शरीर में थोड़ी पीड़ा होती है पर वह बाधक नहीं है क्योंकि जैसे यदि किसी को रोग हो गया हो और डाक्टर या वैद्य खाद्य पदार्थों का निषेध कर दे तो रोगी उसे हितकर मानकर उसके अनुसार चलता है और रोगी को निषेध से उत्पन्न कायपीडा दुःखरूप नहीं लगती वैसे ही तप के सम्बन्ध में समझना चाहिए और तप को बाधक न मानकर साधक ही मानना चाहिए--[६]

दृष्टा चेदर्थसंसिद्धौ कायपीडा ह्यदुःखदा।
रत्नादिवणिगादीनां तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥ ७ ॥

भावार्थ--संसार में रत्न, मणि, मोती आदि के व्यापारियों को विभिन्न देशों समुद्रों तथा खानों पर रत्न, मणि या मोती की प्राप्ति या खरीद के लिए जाना पड़ता है। इस प्रवास में खानपान घूमने-फिरने और अलग २ जलवायु आदि के कारण कायपीडाकारी कष्ट होते हैं। पर रत्न, मणि एवं मोतिओं के व्यापारियों की इष्टसिद्धि (लाभ) आदि होने के कारण उक्त प्रवृत्ति में होने वाली कायपीडा को व्यापारी दुःख रूप नहीं मानता। इसी प्रकार मोक्षमार्ग की साधना में कर्म-निर्जरा के हेतु रूप होने वाली तपरूप कायपीडा को भी मोक्ष-साधक कायपीडा नहीं मानता। इसके विपरीत वह तपश्चर्या को देहममत्व त्याग का प्रबल साधन मानता है। देहममत्व संसार—साधक एवं मोक्षबाधक है--[७]

विशिष्टज्ञानसंवेगशमसारमतस्तपः।
क्षायोपशमिकं ज्ञेयमव्याबाधसुखात्मकम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—पुनः तप विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट संवेग, तथा विशिष्ट प्रशम सारपूर्ण है, इस कारण से तप चारित्र मोहनीय-कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला तथा अव्याबाध सुखरूप है--[८]

—०—

वादाष्टकम्

[१२]

शुष्कवादो विवादश्च धर्मवादस्तथाऽपरः।
इत्येष त्रिविधो वादः कीर्तितः परमर्षिभिः ॥ १ ॥

परमर्षियों ने वाद तीन प्रकार के बताये हैं : (१) शुष्कवाद (२) विवाद एवं (३) धर्मवाद--[१]

अत्यन्तमानिना सार्धं क्रूरचित्तेन च दृढम्।
धर्मद्विष्टेन मूढेन शुष्कवादस्तपस्विनः ॥ २ ॥

भावार्थ--अत्यन्त अभिमानी, अत्यन्त क्रूर चित्त वाले, धर्म-द्वेषी या मूर्ख के साथ साधुपुरुषों का जो वाद होता है, उसे शुष्कवाद कहते हैं--[२].

विजयेऽस्यातिपातादि लाघवं तत्पराजयात्।
धर्मस्येति द्विधाऽप्येष तत्त्वतोऽनर्थवर्धनः ॥ ३ ॥

भावार्थ--ऊपर कथित अभिमानी आदि के साथ वाद में साधु की विजय हो, तो अभिमान के नशे में चूर अभिमानी का अतिपात अर्थात् मृत्यु भी असंभव नहीं है। कदाचित् साधु की पराजय हो जाय तो धर्म की लघुता होती है। अतः तत्त्वतः शुष्कवाद दोनों प्रकारों से अनर्थ का अभिवर्धक है अर्थात् अनर्थ को बढ़ाता है--[३]

लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद्दुःस्थितेनमहात्मना।
छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः ॥ ४ ॥

भावार्थ--पुनः धन आदि इहलौकिक लाभ एवं ख्याति की इच्छा वाले दुःस्थित अर्थात् अस्थिर और अनुदार (संकुचित) चित्तवाले के साथ छल और जाति की प्रधानता वाला जो वाद होता है उसे विवाद कहते हैं--[४]

विजयो ह्यत्र सन्नीत्या दुर्लभस्तत्त्ववादिनः ।
तद्भावेऽप्यन्तरायादिदोषोऽदृष्टविघातकृत् ॥ ५ ॥

भावार्थ--विवाद में छल एवं जाति की मुख्यता होने के कारण तत्त्ववादी अर्थात् सत्यवादी की सच्चे न्याय द्वारा विजय दुर्लभ है और कदाचित् विजय हो भी जाय तो भी साधु को प्रतिवादी के परलोक में विघ्न डालने रूप अन्तराय आदि दोष लगते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि प्रतिवादी हार जाय तो उसको जो लाभ, कीर्ति आदि मिलने वाले थे, उनके न मिलने के कारण उसमें अन्तराय रूप होने से प्रतिवादी के मन में द्वेष आदि पैदा होते हैं। इससे प्रतिवादी का परलोक बिगड़ जाता है और इसमें साधुपुरुष के निमित्त कारण बनने से साधुपुरुष को अन्तराय आदि दोष लगते हैं--[५]

परलोकप्रधानेन मध्यस्थेन तु धीमता ।
स्वशास्त्रज्ञाततत्त्वेन धर्मवाद उदाहृतः ॥ ६ ॥

भावार्थ--जिस वाद में वाद करने वाले वादी, प्रतिवादी एवं मध्यस्थ तीनों अपने-अपने मन में परलोक की मुख्यता रखने वाले अर्थात् परलोक से डरने वाले हों और जो वाद मध्यस्थ और स्वसमयविज्ञ (अपने शास्त्रों के ज्ञाता) बुद्धिमान व्यक्ति के साथ होता है, उसे धर्मवाद कहते हैं--[६]

विजयेऽस्य फलं धर्मप्रतिपत्त्याद्यनिन्दितम् ।
आत्मनो मोहनाशश्च नियमात्तत्पराजयात् ॥ ७ ॥

भावार्थ—कथित धर्मवाद में साधु की विजय हो जाय तो प्रतिवादी द्वारा धर्मस्वीकार (धर्मप्रभावना) मैत्री आदि रूप अनिन्दित फल साधु को संप्राप्त होते हैं और यदि साधु की पराजय हो जाय तो उसके अपने मोह अर्थात् अज्ञान का नाश होता है। यह धर्मवाद जय एवं पराजय दोनों स्थितियों में मात्र लाभदायी एवं वादी तथा प्रतिवादी दोनों का एकान्त हित करने वाला होता है—[७]

देशाद्यपेक्षया चेह विज्ञाय गुरुलाघवम्।
तीर्थंकृज्ज्ञातमालोच्य वादः कार्यो विपश्चिता ॥ ८ ॥

भावार्थ—पंडित पुरुषों को वर्त्तमान शासनपति भगवान श्री महावीर स्वामी परमात्मा के उदाहरण की विचारणा करके देशकाल, सभा, सभ्य, प्रतिवादी आदि की अपेक्षा से अपने गौरव या लाघव का पूर्ण विचार करके किसी भी प्रकार का वाद करना चाहिये—[८]

—o—

धर्मवादाष्टकम्

[१३]

विषयो धर्मवादस्य तत्तत्तन्त्रव्यपेक्षया।
प्रस्तुतार्थोपयोग्येव धर्मसाधनलक्षणः ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रत्येक दर्शन की अपेक्षा से प्रस्तुत अर्थ अर्थात् मोक्षमार्ग प्राप्ति में जो उपयोगी हो और जो धर्म का साधन रूप हो, ऐसा कोई भी विषय धर्मवाद का विषय हो सकता है—[१]

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम् ।
अहिंसासत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥ २ ॥

भावार्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांचों ही सर्वधर्मावलंबियों के लिये पवित्र हैं—[२]

क्व खल्वेतानि युज्यन्ते मुख्यवृत्त्या क्व वा न हि ।
तन्त्रे तत्तान्त्रनीत्यैव विचार्यं तत्त्वतोह्यदः ॥ ३ ॥
धर्मार्थिभिः प्रमाणादेर्लक्षणं न तु युक्तिमत् ।
प्रयोजनाद्यभावेन तथा चाह महामतिः ॥ ४ ॥
"प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम्" ॥ ५ ॥

भावार्थ—ये पांचों ही व्रत हरेक धर्म में अपनी-अपनी अपेक्षा से (दृष्टि से अथवा रीति से) वास्तविक रूप में कहां घट सकते हैं और कहाँ नहीं, उसका ही धार्मिक पुरुषों का तत्त्वतः अर्थात् परमार्थ से विचार करना चाहिये, प्रमाण-प्रमेय आदि के लक्षणों का नहीं, क्योंकि वैसा विचार करना बिना किसी प्रयोजन के युक्ति-युक्त नहीं है। महामतिमान सूरि भगवान श्री सिद्धसेन दिवाकरजी महाराज भी न्यायावतार शास्त्र के द्वितीय श्लोक में फरमाते हैं—प्रमाण और उनके द्वारा निष्पन्न होने वाला व्यवहार ये दोनों प्रसिद्ध हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणी को अनुभव सिद्ध हैं, तो फिर प्रमाण का लक्षण कहने में क्या प्रयोजन है यह समझ में नहीं आता—[३-४-५]

प्रमाणेन विनिश्चित्य तदुच्यते न वा ननु ।
अलक्षितात्कथं युक्ता न्यायतोऽस्य विनिश्चितिः ॥ ६ ॥
सत्यां चास्यां तदुक्तया किं तद्वद्विषयनिश्चतेः ।
तत एवावनिश्चित्य तस्योक्तिर्ध्यान्ध्यमेव हि ॥ ७ ॥

भावार्थ--प्रमाणलक्षण प्रमाण द्वारा निर्णय करके कहा जाता है, या बिना ही निर्णय किये ? इसमें पहला विकल्प उचित नहीं है क्योंकि जिसका लक्षण ही तय नहीं हुआ हो ऐसे प्रमाण द्वारा अर्थात् अनिश्चित प्रमाण द्वारा अपने ही लक्षण का निश्चय (अनवस्थादि दोष लगने से) न्याय युक्त नहीं है। और अनिश्चित प्रमाण से लक्षण का निश्चय होने पर भी प्रमाण-लक्षण के कथन से क्या लाभ ? अर्थात् यहां प्रमाण-लक्षण का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उस रीति से यानी अनिश्चित प्रमाण से प्रमेय का निश्चय भी नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि बिना निश्चय किये प्रमाण द्वारा लक्षण का कथन करना भी मात्र बुद्धि की अंधता का ही सूचक है अर्थात् मनुष्य की मूर्खता रूप ही हैं—[६–७]

तस्माद्यथोदितं वस्तु विचार्यं रागवर्जितैः ।
धर्मार्थिभिः प्रयत्नेन तत इष्टार्थसिद्धितः ॥ ८ ॥

भावार्थ—उक्त कारणों से राग–रहित धार्मिक महानुभाव मानवों को वस्तु का यथास्वरूप से प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार की सत्य एवं तथ्य विचारणा से ही इष्ट अर्थ की सिद्धि होती है--[८]

एकान्तनित्यपक्षखण्डनाष्टकम्

[१४]

तत्रात्मा नित्य एवेति येषामेकान्तदर्शनम् ।
हिंसादयः कथं तेषां युज्यन्ते मुख्यवृत्तितः ॥ १ ॥

भावार्थ--सभी दर्शनों में 'आत्मा नित्य ही है' ऐसा जिनका एकान्त दर्शन है, उनमें मुख्य (प्रधान अथवा वास्तविक) रीति से हिंसा आदि कैसे उचित हो सकती है--[१]

निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति हन्यते वा न जातुचित् ।
कञ्चित् केनचिदित्येवं न हिंसास्योपपद्यते ॥ २ ॥

भावार्थ--आत्मा निष्क्रिय है, इस कारण से वह किसी भी समय किसी का हनन नहीं करता एवं आत्मा का हनन भी किसी से नहीं होता, इस रीति से भी उसमें हिंसा नहीं घटती--[२]

अभावे सर्वथैतस्या अहिंसापि न तत्त्वतः ।
सत्यादीन्यपि सर्वाणि नाहिंसासाधनत्वतः ॥ ३ ॥

भावार्थ--हिंसा के सर्वथा अभाव के कारण वास्तविक दृष्टि से अहिंसा भी सर्वथा असंभव है । अहिंसा की असंभावना होने से अहिंसा के साधन रूप सत्य आदि की संभावना भी समाप्त होजाती है--[३].

ततः सन्नीतितोऽभावादमीषामसदेव हि ।
सर्वं यमाद्यनुष्ठानं मोहसङ्गतमेव वा ॥ ४ ॥

भावार्थ--उक्त अहिंसादि का अभाव होने के कारण न्याय दृष्टि से यम नियम आदि सारी क्रियाएँ असत्य अर्थात् अभावरूप अथवा अज्ञानयुक्त हैं--[४].

शरीरेणापि सम्बन्धो नात एवास्य सङ्गतः
तथा सर्वगतत्वाच्च संसारश्चाप्यकल्पितः ॥ ५ ॥

भावार्थ--आत्मा को मात्र नित्य मानने से आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध युक्ति-युक्त नहीं बनता और उसके सर्वव्यापक होने से उसका (आत्मा का) वास्तविक भवभ्रमण भी अकल्पित अर्थात् अशक्य है--[५].

ततश्चोर्ध्वंगतिर्धर्मादधोगतिरधर्मतः ।
ज्ञानान्मोक्षश्च वचनं सर्वमेवौपचारिकम् ॥ ६ ॥

भावार्थ--और इस कारण से "धर्म से आत्मा की उर्ध्वगति, अधर्म से आत्मा की अधोगति और ज्ञान से मुक्ति होती है" ऐसा शास्त्र वचन भी औपचारिक अर्थात् कल्पित हैं--[६].

भोगाधिष्ठानविषयेऽप्यस्मिन् दोषोऽयमेव तु ।
तद्भेदादेव भोगोऽपि निष्क्रियस्य कुतो भवेत् ॥ ७ ॥

भावार्थ--भोग के आधारभूत शरीरसंबंधी संसारभ्रमण को स्वीकार करने पर भी यही दोष लगेगा। पुनः भोग के भी क्रिया का एक भेद होने से क्रिया-रहित आत्मा के लिये वह कैसे संभव होगा ?--[७].

इष्यते चेत् क्रियाप्यस्य सर्वमेवोपपद्यते ।
मुख्यवृत्त्याऽनघं किन्तु परसिद्धान्तसंश्रयः ॥ ८ ॥

भावार्थ--यदि "एकान्त नित्य आत्मा कुछ क्रिया भी करती है" इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लें, तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह आदि निर्दोष तत्त्व भी तात्त्विक दृष्टि से घट सकते हैं परन्तु इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से एकान्त नित्य आत्मा को अर्थात् जैनों के मत को स्वीकार करना पड़ेगा ।

आखिरकार सत्य ही मेरा है, इस उक्ति अनुसार चलने वालों को, सही दृष्टि से देखा जाय, तो जानते अजानते जैन दृष्टि को स्वीकार करना ही पड़ता है । फिर वह आसानी से करे या और तरीके से करें--[८].

एकान्तानित्यपक्षखण्डनाष्टकम्

[१५]

क्षणिकज्ञानसंतानरूपेऽप्यात्मन्यसंशयम् ।
हिंसादयो न तत्त्वेन स्वसिद्धान्तविरोधतः ॥ १ ॥

भावार्थ--क्षणिक ज्ञान-संतान रूप आत्मा में भी हिंसादिक वास्तविक रीति से अर्थात् निःशंक रीति से घट नहीं सकते क्योंकि उसमें क्षणिक सिद्धान्त वादी बौद्धों के स्वयं के सिद्धान्तों का विरोध होगा--[१].

नाशहेतोरयोगेन क्षणिकत्वस्य संस्थितिः।
नाशस्य चान्यतोऽभावे, भवेद्धिसाप्यहेतुका ॥ २ ॥

भावार्थ--बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि--'विनाशक हेतु का संयोग हुए बिना यानी स्वाभाविक रीति से ही वस्तु क्षणिक है'। उससे आचार्यों का कथन है कि यदि दूसरे विनाशक हेतु द्वारा किसी के भी विनाश को अस्वीकार कर लिया, तो हिंसा भी निर्हेतुक सिद्ध हो जायगी अर्थात् कोई भी प्राणी हिंसक नहीं कहा जायगा--[२].

ततश्चास्या सदा सत्ता कदाचिन्नैव वा भवेत्।
कादाचित्कं हि भवनं कारणोपनिबन्धनम् ॥ ३ ॥

भावार्थ--उपर्युक्त श्लोकानुसार निर्हेतुक सिद्ध होने के बाद हिंसा के सदैव सद्भाव अथवा उसके आत्यंतिक अभाव का अनुभव होगा, क्योंकि कभी-कभी होने वाली उत्पत्ति सकारण ही होती है--[३].

कदाचित् बौद्ध दर्शन वाले यह कह दें कि 'वस्तु का उत्पादक स्वयं ही उसका हिंसक है।' इस पर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि पदार्थ के स्वयं जनक, अथवा पदार्थ के संतान के जनक, इन दो प्रकार के जनकों में से कौनसा जनक हिंसक गिना जायगा ? यदि उसके उत्तर में बौद्ध यह कहें कि---संतान का जनक ही हिंसक है, तो इसका प्रत्युत्तर ग्रन्थकार नीचे के श्लोक में फरमाते हैं.

न च सन्तानभेदस्य जनको हिंसको भवेत्।
सांवृतत्वान्न जन्यत्वं यस्मादस्योपपद्यते ॥ ४ ॥

भावार्थ--कोई दूसरा पदार्थ अर्थात् जनक (उत्पादक) उस प्रवाह का हिंसक नहीं गिना जा सकता, क्योंकि प्रवाह--संतान सांवृत मानी काल्पनिक होने से जन्य नहीं बन सकता—[४].

यदि बौद्ध यह कह दें कि—'पदार्थ का जनक ही हिंसक है' तो उसका जवाब यह रहा :—

न च क्षणविशेषस्य तेनैव व्यभिचारतः ।
तथा च सोऽप्युपादानभावेन जनको मतः ॥ ५ ॥

भावार्थ—अमुक पदार्थ का जनक अर्थात् उत्पादक ही उसका हिंसक है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि नाश पाता हुआ पूर्वगत पदार्थ स्वयं उपादान भाव से उत्तरवर्ती पदार्थ का जनक है, यह तुम स्वयं भी मानते हो। इस कारण से स्वयं ही स्वयं का हिंसक बन जायगा—[५].

तस्यापि हिंसकत्वेन न कश्चित्स्यादहिंसकः ।
जनकत्वाविशेषेण नैवं तद्विरतिः क्वचित् ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रत्येक वस्तु का जनकरूप होने से यदि प्रत्येक को हिंसक मान ले तो कोई भी मनुष्य अथवा स्वयं बुद्ध भी अहिंसक नहीं रह सकेंगे और इस रीति से हिंसा का अभाव सर्वदा असंभव ही रहेगा, अर्थात् अहिंसा जैसे सर्व हितकर सर्वधर्म के मूल का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जायगा—[६].

उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्याः कृतो यत्नेन चिन्त्यताम् ।
विषयोऽस्य यमासाद्य हन्तैष सफलो भवेत् ॥ ७ ॥

भावार्थ---और बौद्ध शास्त्र में अहिंसा का उल्लेख है ही। उससे इस उल्लेख के विषय अर्थात् अहिंसा के सम्बन्ध में गंभीरता पूर्वक सोचना चाहिये, जिससे कि विषय (अहिंसा) का उल्लेख सार्थक हो--[७].

अभावेऽस्या न युज्यन्ते सत्यादीन्यपि तत्त्वतः।
अस्याः संरक्षणार्थं तु यदेतानि मुनिर्जगौ ॥ ८ ॥

भावार्थ---अहिंसा के अभाव में सत्य आदि तत्त्व भी अवास्तविक बन जायेंगे, क्योंकि सत्य आदि सभी सुन्दर सुतत्त्व भगवती अहिंसा के संरक्षण एवं पोषण के लिये हैं ऐसा श्रीमान् जिनेश्वर देवों ने कहा है--[८].

नित्यानित्यपक्षमंडनाष्टकम्

[१६]

नित्यानित्ये तथा देहाद् भिन्नाभिन्ने च तत्त्वतः।
घटन्त आत्मनि न्यायाद्धिंसादीन्यविरोधतः ॥ १ ॥

भावार्थ--नित्यानित्य और देह से भिन्नाभिन्न आत्मा में न्याय दृष्टि से (उसके नित्यानित्य स्वरूप की दृष्टि से बिना किसी विरोध के वास्तविक रीति से) तत्त्वतः हिंसादि घट सकते हैं--[१].

पीडाकर्तृत्वयोगेन देहव्यापत्त्यपेक्षया ।
तथा हन्मीति सङ्क्लेशाद्धिंसैषा सनिबन्धना ॥ २ ॥

भावार्थ—दुःख के कर्त्तापन के सम्बन्ध से देह के होने वाले नाश की अपेक्षा से हनन करने वाले में 'मैं हनन करता हूँ' ऐसा मनोमालिन्य दीखता है, अतः हिंसा सकारण है—[२].

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि निमित्तत्वनियोगतः ।
हिंसकस्य भवेदेषा दुष्टा दुष्टानुबन्धतः ॥ ३ ॥

भावार्थ--हिंस्य प्राणी के कर्मों के उदय के हिंसा में मुख्य कारण होने पर भी हिंसक उसमें निमित्त रूप होता है, इस हेतु से हिंसक को भी हिंसा दोष लगता है, पर यदि वह दुष्ट—कलुषित चित्त पूर्वक हिंसा करता हो तो उसे दुष्ट या सदोषी कहते हैं—[३].

ततः सदुपदेशादेः क्लिष्टकर्मवियोगतः ।
शुभभावानुबन्धेन हन्ताऽस्या विरतिर्भवेत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—उसी रीति से सदुपदेश आदि द्वारा क्लिष्ट कर्मों के क्षय के कारण तथा अध्यवसायादि शुभ भावों द्वारा हिंसा की निवृत्ति होती है-[४]

अहिंसैषा मता मुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्वर्ग और मोक्ष की साधनभूत अहिंसा ही मुख्य है, और इसी कारण से अहिंसा व्रत के संरक्षण हेतु सत्य आदि व्रतों का पालन करना भी न्यायसम्मत है—[५].

स्मरणप्रत्यभिज्ञानदेहसंस्पर्शवेदनात् ।
अस्य नित्यादिसिद्धिश्च तथा लोकप्रसिद्धतः ॥ ६ ॥

भावार्थ—स्मरण (भूत काल में अनुभव की गई वस्तु की वर्त्तमान काल में स्मृति–या–चिन्तन), प्रत्यभिज्ञान (भूतकाल में अनुभव की गई वस्तु का वर्त्तमान काल में उपस्थित वस्तु के साथ सम्बन्ध का ज्ञान) और शरीर के स्पर्श से होने वाले ज्ञान द्वारा तथा लोकानुभव द्वारा नित्यानित्य रूप से एवं शरीर से भिन्नाभिन्न रूप से आत्मा सिद्ध होता है—[६].

देहमात्रे च सत्यस्मिन्, स्यात्सङ्कोचादिधर्मिणि ।
धर्मादेरूर्ध्वगत्यादि यथार्थं सर्वमेव तत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—"धर्म से ऊर्ध्व गति होती है (उपलक्षण से अधर्म से अधोगति ोती है) आदि कथन शरीरपरिणामरूप संकोच विस्तार आदि धर्मवान आत्मा में वास्तविक रीति से घटता है—[७].

विचार्यमेतत् सद्बुद्धया मध्यस्थेनान्तरात्मना ।
प्रतिपत्तव्यमेवेति न खल्वन्यः सतां नयः ॥ ८ ॥

भावार्थ—उक्त कारणों से मध्यस्थभावयुक्त बुद्धिमान् अंतरात्मा को अपनी सद्बुद्धि से अहिंसा आदि का विचार करके उसको स्वीकार करना चाहिए-सचमुच सत्पुरुषों के लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है-[८]

—o—

मांसभक्षणदूषणाष्टकम्

[१७]

भक्षणीयं सतां मांसं प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना ।
ओदनादिवदित्येवं कश्चिदाहातितार्किकः ॥ १ ॥

भावार्थ—कोई अतितार्किक (शुष्कबुद्धिवादी यानी बौद्धदर्शनकार) कहते हैं कि ओदन (चांवल) आदि की भांति मांस खाना चाहिये, चूंकि वह प्राणी का अंग है—[१].

भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थेह शास्त्रलोकनिबन्धना ।
सर्वैव भावतो यस्मात्तस्मादेतदसाम्प्रतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—किन्तु उक्त हेतु उचित नहीं है । इसका कारण है कि सभी प्रकार की भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय आदि की व्यवस्थाएँ वास्तविक रीति से शास्त्र एवं लोक व्यवहार के आधार पर चलती है [२].

तत्र प्राण्यङ्गमप्येकं भक्ष्यमन्यत्तु नो तथा ।
सिद्धं गवादिसत्क्षीररुधिरादौ तथेक्षणात् ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुनः लोक व्यवहार में भी प्राणियों के अंग के विषय में भी कोई अंग भक्ष्य और कोई अंग अभक्ष्य रूप से प्रसिद्ध है क्योंकि गाय आदि के शुद्ध दूध, खून, अस्थि आदि में भक्ष्याभक्ष्यत्व दीखता है [३].

प्राण्यङ्गत्वेन न च नोऽभक्षणीयमिदं मतम् ।
किन्त्वन्यजीवभावेन तथा शास्त्रप्रसिद्धितः ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुनः मांस प्राणी के अंगरूप होने के कारण अभक्ष्य है, है, ऐसा हमारा मानना नहीं । मांस स्वयं अन्य जीवरूप है, अतः अभक्ष्य है । आगमशास्त्रों का भी यही कथन है—[४].

भिक्षुमांसनिषेधोऽपि न चैवं युज्यते क्वचित् ।
अस्थ्याद्यपि च भक्ष्यं स्यात्प्राण्यङ्गत्वाविशेषतः ॥ ५ ॥

भावार्थ—और इस रीति से तो भिक्षु के मांस का निषेध सर्वथा अनुचित है, एवं अस्थि आदि भी भक्ष्य बनेंगे, क्योंकि वह भी तो प्राणी के अंगरूप से समान हैं--[५].

एतावन्मात्रसाम्येन प्रवृत्तिर्यदि चेष्यते ।
जायायां स्वजनन्यां च स्त्रीत्वात्तुल्यैव साऽस्तु ते ॥ ६ ॥

भावार्थ--यदि मात्र प्राणियों के अंग की समानता के सिद्धान्त को लेकर मांस भक्षण की प्रवृत्ति तुम्हें मान्य है, तो स्त्रीत्व सामान्य होने के कारण अपनी पत्नी और माता दोनों के साथ तुम्हारा समान पत्नी रूप या मातारूप व्यवहार होना चाहिये--[६].

तस्माच्छास्त्रं च लोकं च समाश्रित्य वदेद् बुधः ।
सर्वत्रैवं बुधत्वं स्यादन्यथोन्मत्ततुल्यता ॥ ७ ॥

भावार्थ--इसके लिये बुद्धिमान (पण्डितों) को शास्त्रवचन और लोकव्यवहार (महाजन पंथ) का आधार लेकर भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय आदि व्यवहार में बोलना चाहिये, इसीं में पण्डित की बुद्धिमानी है, अन्यथा तो वह उन्मत्त तुल्य है, पागल जैसा है--[७].

शास्त्रे चाप्तेन वोऽप्येतन्निषिद्धं यत्नतो ननु ।
लङ्कावतारसूत्रादौ ततोऽनेन न किञ्चन ॥ ८ ॥

भावार्थ—'लंकावतार' आदि बौद्ध शास्त्रग्रन्थ में तुम्हारे आप्त पुरुष बुद्धदेव ने भी आदरपूर्वक मांस भक्षण का निषेध किया है, इस कारण से मांस-भक्षण के पक्ष में किसी भी तर्क का कोई प्रयोजन नहीं है,

अभिप्राय यह है कि मांस भक्षण के किसी भी तर्क का कोई मूल्य नहीं है—[८].

—o—

मांसभक्षणदूषणाष्टकम्

[१८]

अन्योऽविमृश्य शब्दार्थं न्याय्यं स्वयमुदीरितम् ।
पूर्वापरविरुद्धार्थमेवमाहात्र वस्तुनि ॥ १ ॥
"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला" ॥ २ ॥
"मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः" ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैन से अन्य यानी ब्राह्मण महानुभावों ने भी स्वयं 'मांस' शब्द का अर्थ न्यायसंगत कहा है, फिर भी पूरी तरह विचार किये बिना ही मांसभक्षण के बारे में ब्राह्मण महानुभाव भी परस्पर विरोधी अर्थ इस प्रकार से कहते हैं :—मनुस्मृति (अध्याय ५ श्लोक ५५, ५६) में कहा गया है—"मांसभक्षण में दोष नहीं है, मद्यपान या मैथुन सेवन में भी दोष नहीं है, क्योंकि प्राणियों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है, फिर भी उसका त्याग महाफलदायी है।" "जिसका मांस मैं यहाँ खा रहा हूं वह मुझे जन्मांतर में अर्थात् आगे के भवों में खायेगा" यह 'मांस' शब्द का मांसत्व (व्युत्पत्त्यर्थक भाव) है, ऐसा विद्वान् महानुभाव कहते हैं—[१-२-३].

नीचे दो श्लोकों द्वारा परस्पर के विसंवाद को दूर करने हेतु ब्राह्मणों की ओर से फरमाते हैं:—

इत्थं जन्मैव दोषोऽत्र न शास्त्राद्बाह्यभक्षणम् ।
प्रतीत्यैष निषेधश्च न्यायो वाक्यान्तराद्गतेः ।। ४ ।।
"प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव वाऽत्यये" ।। ५ ।।

भावार्थ—व्युत्पत्ति की अपेक्षा से भक्षक के भक्ष्य रूप में जन्म लेना रूप दोष यहाँ पर शास्त्र-सम्मत नहीं हैं पर शास्त्र में नहीं कहे गये मांसभक्षण की अपेक्षा से उक्त दोष तथा मांसभक्षण का दोष उचित है, क्योंकि शास्त्र के दूसरे वाक्यों से शास्त्र-सम्मत मांसभक्षण की सिद्धि होती है । मनुस्मृतिकार स्वयं ही मनुस्मृति में पंचम अध्याय के २७ वें श्लोक में कहते हैं कि नीचे दर्शित चार प्रसंगों में प्रत्येक मनुष्य को मांस खाना चाहिये । प्रत्येक मनुष्य को–प्रोक्षित मांस (वैदिक मंत्रों द्वारा 'प्रोक्षण' नामक संस्कार पाने के बाद में यज्ञ में हनन किये गये पशु का मास) खाना चाहिये, (२) ब्राह्मणों की इच्छा के कारण एक बार मांस खाना चाहिये, (३) व्याधि के कारण अथवा अन्य खाद्य पदार्थ के अभाव में प्राण-नाश का संकट आये तो मांस चाहिए, (४) श्राद्ध आदि में शास्त्रविधि अनुसार आमंत्रित मनुष्यों को उपयोगी मांस खाना चाहिये—[४–५.]

अब आचार्यश्री मांसभक्षण के परस्पर विरोधों एवं मांसभक्षण का अनौचित्य बताते हुए प्रत्युत्तर देते हैं:—

अत्रैवासावदोषश्चेन्निवृत्तिर्नास्य सज्यते ।
अन्यदाऽभक्षणादत्राभक्षणे दोषकीर्तनात् ॥ ६ ॥
"यथाविधि नियुक्तस्तु यो मांसं नात्तिवै द्विजा ।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् " ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह श्लोक मनुस्मृति में भी आता है, पर श्लोक का पूर्वार्द्ध इस प्रकार से है—नियुक्तस्तु यथान्यायं, यो मांसं नात्ति मानवः । (अ० ५, श्लो० ३५) 'न मांस भक्षणे दोषः'—अर्थात् मांसभक्षण में दोष नहीं है, इस वचन का यदि यह अर्थ हो कि शास्त्रविहित मांसभक्षण में दोष नहीं है, तो मांसभक्षण का त्याग कभी नहीं होगा, क्योंकि शास्त्र विहित प्रसगों को छोड़कर उसका सर्वथा अभक्षण कहा ही है, तथा शास्त्रविहित प्रसंग पर मांस के अभक्षण में शास्त्र ने दोष बताया है । जैसे "यथाविधि प्रवृत्त किया गया जो ब्राह्मण मांस नहीं खाता वह परलोक में—जन्मान्तर में इक्कीस भव तक पशुता को पाता है ।" उससे जिस प्रकार के भक्षण का सर्वथा निषेध हैं, उसके लिये 'निवृत्तिस्तु महाफला' यह कथन सर्वथा व्यर्थ अर्थात् निरर्थक है और जिसका त्याग करने से दोष लगना है उसका त्याग भी निकम्मा अर्थात् निरर्थक है, अतः मांसभक्षण का कभी त्याग नहीं होगा—[६–७].

'निवृत्तिस्तु महाफला' स्मृतिवाक्य निरर्थक है ऐसा ऊपर के श्लोक से सिद्ध होने पर भी तुम यदि कहते हो कि 'निवृत्ति का अर्थ परिव्राजकता, साधुता, गृहस्थाश्रम का त्याग याने कि हिंसादि का त्याग ऐसा समझना है, इस हेतु से स्मृति वाक्य सार्थक है, तो आचार्यश्री

उसका प्रत्युत्तर निम्न-सूचित श्लोक में देते हैं कि निवृत्ति को सार्थक या उचित सिद्ध करने जायें, तो मांस-भक्षण सदोष है, ऐसा सिद्ध होत है, जो तुम्हें इष्ट नहीं है ।

पारिव्राज्यं निवृत्तिश्चेद्यस्तदप्रतिपत्तितः ।
फलाभावः स एवाऽस्य, दोषो निर्दोषतैव न ॥ ८ ॥

भावार्थ—पहली बात तो यह है कि शास्त्रविहित हिंसा का त्याग करने के बाद ही परिव्राजक होते हैं। इस कारण से परिव्राजकता स्वयं ही मांसभक्षण आदि का त्याग रूप है, ऐसा जो तुम्हारा कथन हो तो परिव्राजकता के अंगीकार के कारण होनेवाला उसके फल का अभाव ही विहित मांसभक्षण का दोष है, उसकी निर्दोषता है ही नहीं—[८].

मद्यपानदूषणाष्टकम

[१६]

मद्यं पुनः प्रमादाङ्गं तथा सच्चित्तनाशनम् ।
सन्धानदोषवत्तत्र न दोष इति साहसम् ॥ १ ॥

भावार्थ—पुनः मद्य (शराब) प्रमाद का कारण है, शुभ चित्त का विनाशक है, अनेक चीजों के मिश्रण के कारण उत्पन्न होने वाली

मादकतापूर्वक उसका निर्माण होने के कारण वह सोड कर्म दोष वाली है, अतः उसे निर्दोष कहना अर्थात् 'उसमें दोष नहीं है, यह कहना केवल साहस (धृष्टता) ही है—[१].

किं वेह बहुनोक्तेन प्रत्यक्षेणैव दृश्यते।
दोषोऽस्य वर्तमानेऽपि तथा भण्डनलक्षणः ॥ २ ॥

भावार्थ—अथवा शराब के लिये ज्यादा कहने की कोई आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि वर्त्तमान काल में भी उसका यादवास्थली (में हुई) जैसी लड़ाई, झगड़े, टंटे, फिसाद रूप दोष प्रत्यक्ष दीखता है—[२].

श्रूयते च ऋषिर्मद्यात् प्राप्तज्योतिर्महातपाः।
स्वर्गाङ्गनाभिराक्षिप्तो मूर्खवन्निधनं गतः ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुनः ऐसा कहा जाता है कि—ज्ञान रूप प्रकाश को पाये हुए कोई एक महातपस्वी ऋषि स्वर्गसुन्दरियों से मोहित होकर मद्यपान करने से मूर्ख की भाँति मरण की शरण हुए—[३].

कश्चिदृषिस्तपस्तेपे भीतः इन्द्रः सुरस्त्रियः।
क्षोभाय प्रेषयामास, तस्यागत्य च तास्तकम् ॥ ४ ॥
विनयेन समाराध्य वरदाभिमुखं स्थितम्।
जगुर्मद्यं तथा हिंसां सेवस्वाब्रह्म वेच्छया ॥ ५ ॥
स एवं गदितस्ताभिर्द्वयोर्नरकहेतुताम्।
आलोच्य मद्यरूपं च शुद्धकारणपूर्वकम् ॥ ६ ॥
मद्यं प्रपद्य तद्भोगान्नष्टधर्मस्थितिर्मदात्।
विदंशार्थमजं हत्वा सर्वमेव चकार सः ॥ ७ ॥

ततश्च भ्रष्टसामर्थ्यः स मृत्वा दुर्गतिं गतः।
इत्थं दोषाकरो मद्यं विज्ञेयं धर्मचारिभिः ॥ ८ ॥

भावार्थ--कोई एक ऋषि ने महातप तपा। उससे भयभीत होकर इन्द्र ने ऋषि के विचलन हेतु सुर-सुन्दरियों को भेजा। सुर-सुन्दरियों ने वहाँ आकर विनयपूर्वक ऋषि को प्रसन्न करके उन्हें इच्छित वर देने हेतु तैयार करने के बाद ऋषि से वचन माँगा "आप शराब, हिंसा, अथवा मैथुन का सेवन करो।" सुन्दर देवांगनाओं के वचन को मानकर ऋषि ने हिंसा एवं मैथुन को नरक का रूप मानकर तथा अलग-अलग वस्तुओं के मिश्रण से तैयार होने वाले मद्य को शुद्ध कारण वाला समझकर मद्यपान किया, पश्चात् मद्योपभोग से उत्पन्न मद को शान्त करने हेतु एक बकरे का वध कर नष्टधर्मी उस ऋषि ने शराबपान, माँस-भक्षण, एवं मैथुन-सेवन आदि सारे अनर्थ कर डाले और अनर्थों के कारण तपस्या को भ्रष्ट कर लिया। वह ऋषि मर कर दुर्गति में गया। इस रीति से धर्माचरण करने वाले महानुभाव शराब को दोषों की खान समझें--[४-५-६-७-८].

—०—

मैथुनदूषणाष्टकम्

[२०]

रागादेव नियोगेन मैथुनं जायते यतः।
ततः कथं न दोषोऽत्र येन शास्त्रे निषिध्यते ॥ १ ॥

भावार्थ--मैथुन हमेशा राग के उदय से ही होता है, अतः मैथुन के सेवन में दोष कैसे असंभव है ? इसी कारण शास्त्र में मैथुन के दोष का निषेध किया गया है। अभिप्राय यह है कि मैथुन में दोष संभव ही हैं, अतः शास्त्रोक्त दोषों का अभाव मानना अनुचित है--[१].

कितने ही महानुभाव कहते हैं कि शास्त्र-सम्मत अमुक प्रकार का मैथुन दोषयुक्त नहीं है इस कथन को चुनौती देते हुए ग्रन्थकार आचार्य श्री उत्तर देते :

धमर्थि पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिणः ।
ऋतुकाले विधानेन यत्स्याद्दोषो न तत्र चेत् ॥ २ ॥
नापवादिककल्पत्वान्नैकान्तेनेत्यसङ्गतम् ।
वेदं ह्यधीत्य स्नायाद्यदधीत्यैवेति शासितम् ॥ ३ ॥

भावार्थ--धर्म अर्थात् पुण्य के लिये पुत्र की कामना वाला अधिकारी गृहस्थ स्वस्त्री के साथ ऋतुकाल में यथाविधि जो मैथुन सेवन करता है, उस मैथुन में दोष नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं है। वह मैथुन आपवादिक आचार रूप है उससे वह सर्वथा निर्दोष है ऐसा कहना पूर्णतः असंगत है। वेदों में वेद-पठन का अधिकार बताते हुए कहा है कि--स्त्रीसंग की इच्छा वाले को वेद का पठन करके स्नान करना चाहिये। 'अधीत्य'—'पठन करके' शब्द की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार कहते हैं 'अधीत्येव' 'पठन करके ही' अर्थात् बिना पठन किये नहीं, मतलब कि वेद अध्ययन अनिवार्य है, मैथुन नहीं। इसी कारण से तो मैथुन को आपवादिक कहा है—[२-३].

स्नायादेवेति न तु यत्तो हीनो गृहाश्रमः ।
तत्र चैतदतो न्यायात्प्रशंसाऽस्य न युज्यते ॥ ४ ॥

भावार्थ--पुन: स्नान करना ही चाहिये, ऐसा अनिवार्य नहीं है, अत: गृहस्थाश्रम ब्रह्मचर्याश्रम से निम्न कक्षा का है. और उक्त निर्दोष मैथुन गृहस्थाश्रम में ही संभव हैं इस कारण से तत्त्वत: (पारमार्थिक दृष्टि से या न्याय दृष्टि से) मैथुन की प्रशंसा अनुचित है—[४].

मैथुन की प्रशंसा को उचित सिद्ध करने वालों को आचार्यश्री उत्तर दे रहे हैं ।

अदोषकीर्तनादेव प्रशंसा चेत् कथं भवेत् ।
अर्थापत्या सदोषस्य दोषाभाव प्रकीर्तनात् ॥ ५ ॥

भावार्थ--'न च मैथुने' अर्थात् 'मैथुन सेवन में दोष नहीं है' ऐसे दोष निषेधक कथन से ही मैथुन की प्रशंसा सिद्ध होती है, ऐसा यदि तुम मानते हो तो अर्थापत्त्या--वेदार्थ कथन द्वारा सदोष सिद्ध मैथुन की निर्दोषता के गान मात्र से मैथुन की प्रशंसा कैसे संभव है? अर्थात् वेद प्रमाण द्वारा जो सदोष सिद्ध हो गया है, वह अन्य प्रमाण द्वारा निर्दोष सिद्ध हो ही नहीं सकता, अत: मैथुन की प्रशंसा सर्वथा असंभव ही है--[५].

तत्र प्रवृत्तिहेतुत्वात्त्याज्यबुद्धेरसम्भवात् ।
विध्युक्तेरिष्टसंसिद्धेरुक्तिरेषा न भद्रिका ॥ ६ ॥

भावार्थ—'मैथुन में दोष नहीं है' यह कथन हितकारी नहीं है, क्योंकि वैसा कथन 'मैथुन त्याज्य है, ऐसी बुद्धि पैदा न होने देने के कारण मैथुन की प्रवृत्ति में हेतुभूत बनता है—[६].

प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः ।
नलिकात प्तरणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥ ७ ॥

भावार्थ—श्री महावीर स्वामी आदि तीर्थंकर महर्षियों ने शास्त्रों में फरमाया है कि जैसे माँस की अथवा अन्य किसी की नलिका में आग से तप्त लोहे की शलाका का प्रवेश नलिका के जीवों का विघातक होता है वैसे ही मैथुन सेवन भी प्राणियों का बाधक अर्थात् विघातक होता है—[७].

मूलं चैतदधर्मस्य भवभावप्रवर्धनम् ।
तस्माद्विषान्नवत्त्याज्यमिदं मृत्युमनिच्छता ॥ ८ ॥

भावार्थ—मैथुन अधर्म की जड़ है, तथा संसार भाव बढ़ाने वाला है, अतः मरण के अनिच्छुक मोक्षाभिलाषियों को विषमिश्रित अन्न की भांति मैथुन को छोड़ देना चाहिये [८].

—o—

सूक्ष्मबुद्ध्याश्रयणाष्टकम्

[२१]

सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः ।
अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव तद्विघातः प्रसज्यते ॥ १ ॥

गृहीत्वा ग्लानभैषज्यप्रदानाभिग्रहं यथा ।
तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥

भावार्थ--धार्मिक महानुभाव सत्पुरुषों को धर्म का सदैव विवेक बुद्धि से विचार करना चाहिये, नहीं तो बीमार को औषध आदि अभिग्रह ग्रहण करके बीमार न मिलने पर अथवा बीमार को औषध आदि देने के बाद शोक करने वाले अभिग्रहधारी की भाँति धर्मबुद्धि द्वारा भी विवेक के अभाव से धर्म का विघात होता है--[१-२].

गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो, ग्लानो जातो न च क्वचित् ।
अहो मेऽधन्यता कष्टं, न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥ ३ ॥

भावार्थ--अभिग्रह ग्रहण करना श्रेष्ठ है, पर कभी यदि बीमार न हो, या बीमार न मिले तो अभिग्रहधारी विचार करता है कि अहो ! मैं अधन्य हूँ, अफसोस है ! कि इष्ट सिद्धि न हुई—[३].

एवं ह्येतत्समादानं ग्लानभावाभिसन्धिमत् ।
साधूनां तत्त्वतो यत्तद् दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः ॥ ४ ॥

भावार्थ--ऊपर कथित रीति से ग्लान भाव की अभिसंधिवाला अर्थात् ग्लान भाव की इच्छा करने वाला साधुओं का जो अभिग्रह ग्रहण है, उसे महात्मा पुरुष दुष्ट समझें--[४].

लौकिकैरपि चैषोऽर्थो दृष्टः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः ।
प्रकारान्तरतः कैश्चिदत एतदुदाहृतम् ॥ ५ ॥

"अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं मम ।
नरः प्रत्युपकाराय विपत्सु लभते फलम्" ॥ ६ ॥

भावार्थ—पुनः वालमीकि आदि कितने सूक्ष्म बुद्धि वाले जैनेतर विद्वानों ने भी दूसरी रीति से यही अर्थ समझकर बाली के मुख से निम्न शब्द कहलाए हैं 'उपकृत मनुष्य प्रत्युपकार का फल उपकारी की कठिनाई के समय पाता है और तुमने (रामचन्द्रजी ने) मेरे ऊपर अति उपकार किया है, इस कारण से बदला देने के लिये मैं तुम्हें कठिनाइयों में देखने की भावना भी नहीं कर सकता। इसके लिये मेरे गात्रों में वृद्धत्व घर करो—[५-६].

एवं विरुद्धदानादौ हीनोत्तमगतेः सदा ।
प्रव्रज्यादिविधाने च शास्त्रोक्तन्यायबाधिते ॥ ७ ॥
द्रव्यादिभेदतो ज्ञेयो धर्मव्याघात एव हि ।
सम्यग्माध्यस्थ्यमालम्ब्य श्रुतधर्मव्यपेक्षया ॥ ८ ॥

भावार्थ—इसी प्रकार से निषिद्ध दारादि का सेवन करने से एवं शास्त्रकथित नियमों से विरुद्ध दीक्षा आदि देने में अर्थात् हीन वस्तु का दान अथवा अपात्र को दीक्षा आदि देने में दीखने में तो हमेशा उत्तम दीखता है, पर आगमानुसार वर्णित सम्यक् समभाव की अपेक्षा से धर्म का द्रव्य-क्षेत्र, काल और भाव से नाश ही होता है, ऐसा समझना चाहिये—[७-८].

भावविशुद्धिविचाराष्टकम्

[२२]

भावशुद्धिरपि ज्ञेया यैषा मार्गानुसारिणी ।
प्रज्ञापनाप्रियात्यर्थं न पुनः स्वाग्रहात्मिका ॥ १ ॥

भावार्थ--जो मोक्षमार्ग का अनुसरण करता है, जिसे आगमों का उपदेश अतिशय प्रिय है और जो स्व-मत-आग्रही (कदाग्रही) नहीं है, ऐसे व्यक्ति के भाव को विशुद्ध मानना चाहिए--[१].

रागो द्वेषश्च मोहश्च भावमालिन्यहेतवः ।
एतदुत्कर्षतो ज्ञेयो हन्तोत्कर्षोऽस्य तत्त्वतः ॥ २ ॥

भावार्थ—राग, द्वेष और मोह आत्मभावों की मलिनता के हेतु रूपःहैं अतः वास्तविक दृष्टि से राग, द्वेष, एवं मोह के उत्कर्ष को मलिनता का उत्कर्ष समझना चाहिए--[२].

तथोत्कृष्टे च सत्यस्मिन् शुद्धिर्वै शब्दमात्रकम्
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितं नार्थवद्भवेत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—और इसी कारण से यदि मोह तीव्रतम हो, तो भावशुद्धि अपनी स्वन्तत्र बुद्धि कल्पना के कौशल द्वारा रचित, अर्थ-रहित शब्दचित्र रूप मात्र बन जाती है--[३].

न मोहोद्रिक्तताऽभावे स्वाग्रहो जायते क्वचित् ।
गुणवत्पारतन्त्र्यं हि तदनुत्कर्षसाधनम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—और यदि मोह आदि का उद्रेक (उभाड़) न हो, तो भाव मलिनता रूप स्व-मत-आग्रह कभी भी पैदा नहीं होता, इसलिये मोह का ह्रास करना चाहिए और मोह के ह्रास का कारण है गुणीजनों की अधीनता में रहना--[४].

अत एवागमज्ञोऽपि दीक्षादानादिषु ध्रुवम् ।
क्षमाश्रमणहस्तेनेत्याह सर्वेषु कर्मसु ॥ ५ ॥

भावार्थ—इन्हीं कारणों से आगमज्ञ साधु महात्माओं का भी मन्तव्य है कि 'दीक्षा प्रदान आदि सभी कार्य अपने गुरुदेव के हाथों से ही करवाने चाहिये--[५].

इदं तु यस्य नास्त्येव स नोपायेऽपि वर्तते ।
भावशुद्धेः स्वपरयोर्गुणाद्यज्ञस्य सा कुतः ॥ ६ ॥

भावार्थ---स्व-पर के गुण-अवगुणों को नहीं जानने वाले जिस मनुष्य में गुणीजनों की अधीनता नहीं है, वह मनुष्य गुणीजनों की अधीनतारूप--भावशुद्धि के उपाय को भी अभी तक नहीं जान पाया है। वह भावशुद्धि को तो कहाँ से पायेगा अर्थात् भावशुद्धि नहीं पा सकेगा--[६].

तस्मादासन्नभव्यस्य प्रकृत्या शुद्धचेतसः ।
स्थानमानान्तरज्ञस्य गुणवद्बहुमानिनः ॥ ७ ॥

औचित्येन प्रवृत्तस्य कुग्रहत्यागतो भृशम् ।
सर्वत्रागमनिष्ठस्य भावशुद्धिर्यथोदिता ॥ ८ ॥

भावार्थ--इससे निकट भविष्य में ही मोक्ष में गमन करने वाले, स्वभाव से ही शुद्ध चित्त वाले, स्व-पर के स्थान एवं मान के भेद को जानने वाले, गुणीजनों का बहुमान करने वाले, यथोचित प्रवृत्ति करने वाले--और कदाग्रह के पूर्णत: त्यागी होने के कारण सर्व प्रसंगों में अत्यन्त आगमनिष्ठ मनुष्य की भावशुद्धि आगमानुसारिणी बनती है--[७-८].

—०—

शासनमालिन्यनिषेधाष्टकम्

[२३]

य: शासनस्य मालिन्येऽनाभोगेनापि वर्त्तते ।
स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वादन्येषां प्राणिनां ध्रुवम् ॥ १ ॥
बध्नात्यपि तदेवालं परं संसारकारणम् ।
विपाकदारुणं घोरं सर्वानर्थविवर्धनम् ॥ २ ॥

भावार्थ--जो मनुष्य अनजान में भी शासन का मालिन्य (अवनति-अपभ्राजना) करता है वह मनुष्य, दूसरे प्राणियों के शासन विषयक मिथ्यात्व का कारणभूत होने से स्वयं भी सभी अनर्थों को बढ़ाने वाली, मिथ्यात्व दु:खद फलप्रद, संसार वृद्धि के कारण रूप तीव्र तथा घोर भयंकर, मोहनीय कर्म को प्रचुर मात्रा में बांधता है—[१-२].

यस्तून्नतौ यथाशक्ति सोऽपि सम्यक्त्वहेतुताम् ।
अन्येषां प्रतिपद्येह तदेवाप्नोत्यनुत्तरम् ॥ ३ ॥
प्रक्षीणतीव्रसंक्लेशं प्रशमादिगुणान्वितम् ।
निमित्तं सर्वसौख्यानां तथा सिद्धिसुखावहम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—किन्तु जो मनुष्य शासन की उन्नति (प्रभावना-उज्ज्वलता शोभा) आदि में जुड़ता है वह भी दूसरों को सम्यक्त्व की प्राप्ति करवाने में हेतुभूत बनने वाला होने के कारण तीव्र संक्लेश के अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय वाला, प्रशम आदि गुणों वाला, समस्त सुखों का निमित्त भूत, तथा सिद्धि सुख की सम्प्राप्ति करवाने वाला अनुत्तर अनुपम सम्यक्त्व प्राप्त करता है--[३-४].

अतः सर्वप्रयत्नेन मालिन्यं शासनस्य तु ।
प्रेक्षावता न कर्तव्यं प्रधानं पापसाधनम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—अतः बुद्धिमान पुरुषों को शासन की मलिनता किसी भी प्रकार से नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह पाप की उत्कृष्ट साधन रूप होती है। अभिप्राय यह है कि ऐसे सभी निमित्तों, साधनों या कार्यकलापों से दूर रहना चाहिये जिससे शासन की मलिनता होती हो। अपनी मलिनता या अपात्रता अपना अहित करती है, पर शासन के साथ सम्बद्ध कार्यों की अपनी मलिनता अपने साथ साथ शासन की अपभ्राजना का कारण बनती है और स्वयं उसमें निमित्त कारण होने से हम उत्कृष्ट पापबन्ध को प्राप्त करते हैं। अतः इन विषयों से सर्वथा सजग रहना चाहिये। अपने से बने तो यथाशक्य शासन की

उन्नति करे पर न बने तो कम से कम शासन की अपभ्राजना को तो अवश्य टालना सर्वथा हितकर है—[५].

अस्माच्छासनमालिन्याज्जातौ जातौ विगर्हितम् ।
प्रधानभावादात्मानं सदा दूरीकरोत्यलम् ॥ ६ ॥

भावार्थ--शासन की हानि करने के कारण मनुष्य भव-भव में निन्दित अपनी आत्मा को उन्नत भाव से हमेशा दूर-दूर रखता है–[६].

कर्तव्या चोन्नतिः सत्यां शक्ताविह नियोगतः ।
अवन्ध्यं बीजमेषा यत्तत्त्वतः सर्वसम्पदाम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—अपनी शक्ति हो तो शासन की प्रभावना अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि वास्तविक दृष्टि से शासन प्रभावना सर्व प्रकार की सम्पत्तियों का अवन्ध्य--फलप्रद बीज है। अपनी शक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, और शक्ति का पूरा स्रोत शासन प्रभावना की ओर बहाना चाहिए। शासनप्रभावना मोक्षलक्ष्मी का ऐसा सर्वोत्तम उपाय है कि जिसकी कोई उपमा कहीं भी नहीं मिल सकती— [७].

अत उन्नतिमाप्नोति जातौ जातौ हितोदयाम् ।
क्षयं नयति मालिन्यं नियमात्सर्ववस्तुषु ॥ ८ ॥

भावार्थ—जबकि शासनप्रभावना द्वारा मनुष्य प्रत्येक भव में उत्तरोत्तर कल्याणदायिनी उन्नति को पाता है, तब शासन का मालिन्य मनुष्य को सभी प्रकार से सभी स्थितियों में अवश्यमेव नाश की ओर ले जाने वाला है। इसका सारांश यह है कि—शासन की प्रभावना

परम प्रकाश को प्राप्त करवाने वाली है एवं शासन की अपभ्राजना घोर, निबिड भयंकर अंधकार में भटकाने वाली और डुबाने वाली है। अतः शासन में उद्यत तथा शासन-मलिनता से विरत बनो—[८].

—०—

पुण्यानुबन्धिपुण्यादिविवरणाष्टकम्

[२४]

गेहाद्गेहान्तरं कश्चिच्छोभनादधिकं नरः।
याति यद्वत्सुधर्मेण तद्वदेव भवाद्भवम ॥ १ ॥

भावार्थ--जैसे कोई मनुष्य एक सुन्दर घर में से-दूसरे सुन्दरतर घर में जाता है, उसी प्रकार से मनुष्य शुभ धर्म द्वारा वर्त्तमान शुभ भव में से दूसरे शुभतर भव में जाता है--[१].

गेहाद्गेहान्तरं कश्छिोभनादितरन्नरः।
याति यद्वदसद्धर्मात्तद्वदेव भवाद्भवम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से कोई मनुष्य सुन्दर घर में से गन्दे घर में जाता है, उसी प्रकार से मनुष्य अधर्म द्वारा शुभ भव में से अशुभ भव में जाता है--[२].

गेहादगेहान्तरं कश्चिदशुभादधिकं नरः।
याति यद्वन्महापापात्तद्वदेव भवाद्भवम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से कोई मनुष्य अशुभ अर्थात् गंदे घर में से और अधिक गन्दे घर में जाता है, उसी प्रकार से महापापों के आचरण से मनुष्य खराब गति में से अधिक खराब गति में जाता है-[३].

गेहाद्गेहान्तरं कश्चिदशुभादितरन्नरः ।
याति यद्वत्सुधर्मेण तद्वदेव भवाद् भवम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे कोई मनुष्य असुन्दर घर में से सुशोभित घर में प्रवेश करता है, उसी प्रकार से सद्धर्म द्वारा मनुष्य अशुभ गति में से शुभ गति में जाता है—[४].

शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं कर्तव्यं सर्वथा नरैः ।
यत्प्रभावादपातिन्यो जायन्ते सर्वसम्पदः ॥ ५ ॥

भावार्थ--अतः मनुष्य को सर्व प्रकार से शुभफलदायी पुण्य कर्म करना चाहिए जिसके प्रभाव से सभी अविनश्वर संपत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं—[५].

सदागमविशुद्धेन क्रियते तच्च चेतसा ।
एतच्च ज्ञानवृद्धेभ्यो जायते नान्यतः क्वचित् ॥ ६ ॥

भावार्थ—धर्मशास्त्रों से विशुद्ध होने वाले चित्त द्वारा पुण्यबन्ध होता है—और ज्ञानवृद्ध स्थविरों की आज्ञा में रहने से चित्त शुद्ध होता है । ज्ञानवृद्ध स्थविरों की अधीनता के सिवाय दूसरे किसी भी साधन से चित्त कभी भी शुद्ध नहीं होता--[६].

चित्तशुद्धि का इतना महत्त्व बताने का कारण यह है कि चित्त की शुद्धता के बिना सभी क्रियाएँ अर्थात् तपश्चर्याएँ एवं आराधनाएँ विफल हो जाती हैं और चित्तरूपी रत्न को तो शास्त्रकारों ने भी आध्यात्मिक धन बताते हुए फरमाया है :—

चित्तरत्नमसंक्लिष्टमान्तरं धनमुच्यते ।
यस्य तन्मुषितं दोषैस्तस्य शिष्टा विपत्तयः ॥

बिना कषाय का चित्तरत्न आन्तरिक धन अर्थात् आध्यात्मिक धन है । जिस मनुष्य का तथोक्त शुद्ध चित्तरत्न चोरी चला गया, उसके पास मात्र दुःख और विपत्तियों के अलावा कुछ भी नहीं बचता ।

उक्त कथन से यह शंका सहज रूप से हो सकती है कि स्वाभाविक रीति से ही आगमोक्त पद्धति से शुद्ध मन वाले मनुष्यों के उदाहरण अपने को मिलते हैं, तो फिर ज्ञानवृद्ध स्थविर महापुरुषों के प्रसाद की अनिवार्यता क्यों रखी गई है। इस शंका का समाधान करतेहुए ग्रन्थकार आचार्य श्री कहते हैं:--

प्रकृत्या मार्गगामित्वं सदपि व्यज्यते ध्रुवम् ।
ज्ञानवृद्धप्रसादेन वृद्धिं चाप्नोत्यनुत्तराम् ॥ ७ ॥

भावार्थ--कभी-कभी मन का स्वाभाविक रीति से होने वाला शास्त्रानुसारी रूप भी ज्ञानवृद्ध स्थविर महापुरुषों की कृपा से ही स्पष्ट ज्ञात होता है एवं अनुत्तर विकास को प्राप्त करता है—[७].

दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद्गुरुपूजनम् ।
विशुद्धा शीलवृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ॥ ८ ॥

भावार्थ--जीवों पर दया, वैराग्य, विधिपूर्वक गुरुपूजन और विशुद्ध शीलवृत्ति ये सभी पुण्यानुबन्धी पुण्य देने वाले हैं--[८].

--०--

पुण्यानुबन्धिपुण्यप्रधानफलाष्टकम्

[२५]

अत: प्रकर्षसम्प्राप्ताद्विज्ञेयं फलमुत्तमम् ।
तीर्थकृत्त्वं सदौचित्यप्रवृत्त्या मोक्षसाधकम् ॥ १ ॥

भावार्थ—उत्कृष्ट प्रकार के पुण्यानुबन्धि पुण्य में से हमेशा सुन्दर औचित्य वाली प्रवृत्ति कराने के कारण मोक्षसाधक एवं तीनों जगत के पूज्यत्व का प्रधान कारण 'तीर्थंकरत्व' नाम का सर्वोत्तम फल मिलता है, ऐसा समझें—[१].

सदौचित्यप्रवृत्तिश्च गर्भादारभ्य तस्य यत् ।
तत्राप्यभिग्रहो न्याय्यः श्रूयते हि जगद्गुरोः ॥ २ ॥
पित्रुद्वेगनिरासाय महतां स्थितिसिद्धये ।
इष्टकार्यसमृद्ध्यर्थमेवम्भूतो जिनागमे ॥ ३ ॥

भावार्थ--क्योंकि गर्भ की स्थिति से ही जगद्गुरु तीर्थंकर भगवान श्री महावीर स्वामी में परमात्मा की यथोचित प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, अत: उस परमतारक लोकोत्तम परमपुरुष का अभिग्रह अत्यन्त न्याय-संगत अर्थात् उत्तम प्रकार का है, ऐसा लोकों में भी सुना जाता है।

माता-पिता के उद्वेग को दूर करने, महान सत्पुरुषों की व्यवस्था को सिद्ध करने तथा इष्टकार्य याने दीक्षा-ग्रहण को पूर्व तैयारी द्वारा समृद्ध करने हेतु जगद्गुरु का निम्नोक्त अभिग्रह था, ऐसा जिनागमों में कहा गया है--[२-३].

जीवतो गृहवासेऽस्मिन् यावन्मे पितराविमौ ।
तावदेवाधिवत्स्यामि गृहानहमपीष्टतः ॥ ४ ॥

इमौ शुश्रूषमाणस्य गृहानावसतो गुरू ।
प्रव्रज्याप्यानुपूर्व्येण न्याय्याऽन्ते मे भविष्यति ॥ ५ ॥

सर्वपापनिवृत्तिर्यत् सर्वथैषा सतां मता ।
गुरूद्वेगकृतोऽत्यन्तं नेयं न्याय्योपपद्यते ॥ ६ ॥

भावार्थ--"जब तक मेरे माता-पिता इस घर में जीवित हैं, तब तक मैं भी स्वेच्छापूर्वक घर में रहूँगा ।

पुनः घर में रहकर माता पिता की सेवा करने वाले मेरी प्रव्रज्या भी क्रमशः उनके अवसान के बाद ही उचित होगी ।

चूँकि सभी प्रकार के सभी पापों की निवृत्ति ही सत्पुरुषों को मान्य है, अतः माता-पिता को उद्विग्न करने वाली मेरी प्रव्रज्या भी न्याय-संगत नहीं है"--[४-५-६].

प्रारम्भमङ्गलं ह्यस्या गुरुशुश्रूषणं परम् ।
एतौ धर्मप्रवृत्तानां नृणां पूजास्पदं महत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—बड़ों की सेवा-शुश्रूषा एवं भक्ति यह प्रव्रज्या का प्रारंभिक मंगल है। धर्ममार्ग में प्रवृत्त मनुष्यों के लिये वह बड़ा पूजा स्थान है—[७].

स कृतज्ञः पुमान् लोके स धर्मगुरुपूजकः।
स शुद्धधर्मभाक् चैव य एतौ प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

भावार्थ—वह मनुष्य ही इस लोक में कृतज्ञ है, वह मनुष्य ही धर्मगुरुओं का पूजक है, वह मनुष्य ही शुद्ध धर्म का भाजन है जो कि माता-पिता की सेवा करता है—[८].

इस अष्टक में कई विशेषताएँ हैं जिसमें से कुछ विशेषताओं का निर्देश करते हैं—

(१) जब तीर्थंकर भगवान् माता के गर्भ में आते हैं तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान से युक्त होते हैं, अतः अपना प्रव्रज्या समय जानते हैं।

(२) संसारी गृहस्थों को माता-पिता की सेवा, भक्ति, शुश्रूषा अवश्य करनी चाहिए। अगर संसारी अवस्था से ही सेवा के संस्कार नहीं पड़े तो दीक्षा-जीवन में भी वैय्यावच्च के संस्कार पड़ने में कठिनता रहती है। साथ-साथ अन्य लोगों के हृदयों में सद्भाव कम उत्पन्न होता है क्योंकि लोग कहते हैं कि—माता पिता को दुःख देने वाला दीक्षा में क्या नवीनता करेगा।

(३) माता-पिताओं को ध्यान रखना चाहिए कि वे भगवान की जीवनी के शब्दों की आड़ में अपनी संतानों की प्रव्रज्या में रोड़ा न बनें और उनका इहलोक और परलोक न बिगाड़ें।

चूँकि इस अष्टक के छठे श्लोक में स्पष्ट निर्देश है कि "सभी प्रकार से सर्व पापों की निवृत्ति ही सत्पुरुषों को मान्य है" अतः जैसे माता-पिता अपने स्वार्थ हेतु भगवान के अभिग्रह के शब्दों को सन्तान के आगे रखते हैं, वैसे ही उन्हें उक्त पापनिवृत्ति के वचन को भी ध्यान में रखना ही चाहिए सन्तान का वर्तमान एवं भविष्य उज्ज्वल भव्य एवं महान बने, उस ओर अग्रसर होना चाहिये। शास्त्रों में अपनी सन्तान का पारलौकिकहित चाहने वाले माता-पिताओं को सच्चा माता-पिता कहा है। शास्त्रों में यहाँ तक बताया गया है कि—सच्चे माता पिता यह समझें कि अपने चारित्रावरणीय कर्म का उदय होने के कारण वे अपनी दीक्षा के दिव्य पथ पर जाने में असमर्थ हैं, पर यदि उनकी अपनी सन्तान दीक्षा-पथ पर प्रयाण करे तो अपना बड़ा सौभाग्य है। दीक्षा-पथ पर प्रवृत्त करने हेतु जनक-जननी अपने पुत्र-पुत्री आदि को बचपन से ही भव की भयंकरता का भान हो और वह संसार से विरक्त हो, ऐसी धर्म-शिक्षा दें। वे उनको ऐसी शिक्षा दें, जिसके प्रभाव से सन्तानों की संयमभावना सुदृढ बने। सन्तानों की संयम की भावना को देखकर माता पिता के मन-मयूर को मस्त बनकर नाच उठना चाहिए। उसको देखकर माता माने कि मैं रत्न-कुक्षिणी बनूँगी, पिता माने कि मैं कुलदीपक का जनक बनूँगा। धन्य हैं वे जिनकी ऐसी सन्तान हैं। कदाचित् सन्तान के भाग्यवशात् (चारित्रा-

वरणीय कर्मोदय के कारण) वह दीक्षा न ले सके तो भी माता-पिता का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वे उसे बार-बार प्रेरित करें। यहाँ तक बताया है कि--संतान युवास्था में प्रवेश करे तब भी उसे कहें--भाई ! यह युवावस्था है, यह ही वह अवस्था है कि जिसमें पूरी शक्ति से आराधना हो सकती है, अत: प्रव्रज्या के पथ पर प्रवृत्त होने की यही सही अवस्था है। विशुद्ध ब्रह्मचर्यमय जीवन के साथ-साथ संयम मिल जाय तो महान् भाग्य ! कई बार समझाने पर भी पुत्र-पुत्री न माने और युवावस्था के कारण उनके संसार-सम्बन्ध जोड़ने का अवसर आये, तब भी जनक-जननी तो यह ही माने कि सन्तान बेचारी अभागी है, बहुल संसारी है, अभी इसका भवभ्रमण बाकी है। इससे माता-पिता के मन में अत्यन्त खेद हो। सम्बन्ध के समय में भी अपना दायित्व समझकर माता-पिता उसमें इसलिए पड़ें कि संतान उन्मार्गी न हो। सम्बन्ध के समय में माता-पिता के मन में हर्ष न होकर उदासीनता रहे। वे सोचें अरेरे ! एक नया पाप के अध्याय अर्थात् संसार का पन्ना खुल रहा है। हम संसार में पड़े हैं इसलिए हमें भी इसका निमित्त बनना पड़ता है। अभी भी यह समझ जाय तो अच्छा ! हम भी पाप से बच जायें ! आखिर जब लग्न का अवसर आये, लग्न का मंडप भी तैयार हो जाय, शादी की शहनाई भी गूंज उठे, शादी के गीतों से घर भर जाय, सारी तैयारियाँ हो जायँ, फिर भी माता-पिता उसे समझावें—देखो, अभी भी तुम्हारी भावना बढ़ती हो, तो हम इस लग्न के अवसर को दीक्षा में पलट दें, राग के मंच पर ही राग को पछाड़ दें, लग्न के मंडप को दीक्षा का मंडप बनादें, लग्न के जुलूस को

दीक्षा का जुलूस बना दें और इस तरह सारा मामला ही बदल दें। पूरी शक्ति, बुद्धि आदि से समझावें। यदि पुत्र-पुत्री न समझें तो अनिवार्य समझकर-बोझ समझकर उस जिम्मेदारी को निभायें पर मन में शादी का आनन्द न होकर दुःख हों।

इतनी महानतम उच्च जिम्मेदारी माता-पिता को समझनी चाहिये। बचपन से दिये गये धर्म के संस्कारों के कारण कदाचित् सन्तान संसार में रहेगी, तो भी जब-जब आरम्भ, समारम्भ, पापव्यापार, अनीति, अन्याय, आदि का अवसर आयेगा, तो वह कतरायेगा, उसकी आत्मा में पाप के प्रति घृणा जगेगी, वह अपने कार्य के प्रति सजग रहेगा। कम से कम उसे पश्चात्ताप अवश्य होगा। अरे! इतना तो उसे अवश्य लगेगा कि 'मैं यह अनुचित कर रहा हूँ' बस! ये संस्कार ही उसका संसार सीमित करने में निमित्त बन सकेंगे। मोह के साथ युद्ध में यह कामना कमाल का काम करेगी। आखिर ज्ञानियों के उपदेश का सार भी यह ही है कि सारी आराधना, ज्ञान, ध्यान, संयम, तप आदि के कारण आत्मा में कितनी भवभीरुता आयी है और जीव अपनी स्थिति को समझ पाया है या नहीं। सकारण संसार में पड़ना पड़े, तो भी सजगता होना अत्यन्त जरूरी है। दृष्टि की सृष्टि जीवन को आलोकित भी कर सकती है, और तमसावृत भी कर सकती है; हरा-भरा भी कर सकती है, उजाड़ भी सकती है। अतः माता-पिता एवं पुत्र-पुत्रियाँ अपना दायित्व समझने में सफल बनें और अपनी आत्मा को आनन्दमय, आलोकमय बनाने की ओर अग्रसर बनें।

तीर्थकृद्दानमहत्त्वसिद्ध्यष्टकम्

[२६]

परमतारक श्री तीर्थंकर भगवान दीक्षा ग्रहण करने के पहले एक बर्ष तक जो दान देते हैं, उसे संवत्सरीदान कहते है।

यह दान ऐसा अजीब है कि जिसके हाथों में जिनेश्वर देव के हाथ का बरसी दान आता है, उसके पूर्व के सब रोग नष्ट हो जाते हैं। दान लेने वाला भव्य अर्थात् संसार का क्षय करके मोक्ष में जाने की योग्यता बाला ही होता है। अभव्य के पल्ले यह दान नहीं पड़ता है। मध्यस्थ, तटस्थ एवं गुणग्राहकता की दृष्टि से देखने वाले के लिये यह दान समस्त संसार में अनुपमेय, सर्वाधिक, सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम है। इतना होने पर भी सम्पूर्ण निर्मलता में मलिनता एवं पूर्ण गुणों में दोष निकालने वालों से संसार कभी खाली नहीं रहा। इस महान परिणाम शुभ दान के बारे में कोई कोई शंका करते हैं। उस शंका को ग्रन्थकार बताते हैं :—

जगद्गुरोर्महादानं सङ्ख्यावच्चेत्यसङ्गतम्।
शतानि त्रीणि कोटीनां सूत्रमित्यादि चोदितम् ॥ १ ॥

भावार्थ—तुम्हारे सूत्रों में कहा है कि-'तिन्नेव य कोडीसया, अट्ठासीइ च होइ कोडीओ। असीइ च सयसहस्सा, एयं संवच्छरे दिण्णं। (आवश्यक निर्युक्ति गाथा २२०) "त्रिभुवनगुरु भगवान श्री तीर्थंकर देवों का दान ३८८०००००० (तीन अरब अट्ठासी करोड़) स्वर्णमुद्राएँ हैं" (अर्थात् तीर्थंकर देव १ लाख ८ हजार स्वर्णमुद्राओं

का दान प्रतिदिन देते हैं इस हिसाब से १ वर्ष की दानकी उक्त संख्या है।) इस दान की संख्या परिमित होने के कारण 'महादान' कहना सर्वथा असंगत है क्योंकि–

अन्यैस्त्वसङ्ख्यमन्येषां स्वतन्त्रेषूपवर्ण्यते।
तत्तदेवेह तद्युक्तं महच्छब्दोपपत्तितः ॥ २ ॥

भावार्थ—जबकि दूसरों अर्थात् बौद्ध दर्शनकारों ने अपने शास्त्रों में बोधिसत्त्वों के दान का अपरिमित होना वर्णित किया है, अतः उनके दानको ही महादान कहना युक्तिसंगत है क्योंकि उनके दान में 'महत्' शब्द उचित बैठता है [२].

ततो महानुभावत्वात्तेषामेवेह युक्तिमत्।
जगद्गुरुत्वमखिलं सर्वं हि महतां महत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उपर्युक्त महादान द्वारा महानुभावता सिद्ध होने के कारण बोधिसत्वों का ही सम्पूर्ण जगद्गुरुत्व युक्तियुक्त है, क्योंकि महान पुरुषों का सभी महत् होता है, [३].

ऊपर कथित शंकाओं का समाधान करते हुए ग्रन्थकार आचार्यश्री फरमाते हैं

एवमाहेह सूत्रार्थं न्यायतोऽनवधारयन्।
कश्चिन्मोहात्ततस्तस्य न्यायलेशोऽत्र दर्श्यते ॥ ४ ॥

भावार्थ—मोहवशात् जैन सूत्रों के रहस्यार्थ को न्याय बुद्धि से न समझने वाले कोई दर्शनवाले अर्थात् बौद्धदर्शन वाले उपर्युक्त रीतिसे

कहते हैं, उससे उस मूढमति के कथन में रहा हुआ न्याय का अंश यहाँ बताते हैं [४].

महादानं हि संख्यावदर्थ्यभावाज्जगद्गुरोः ।
सिद्धं वरवरिकातस्तस्याः सूत्रे विधानतः ॥ ५ ॥

भावार्थ—कोई भी आवश्यकता वाला न रहने के कारण परिगणित रहा हुआ जगद्गुरु तीर्थंकर देव का दान 'वरवरिका–मांगो, मांगो' ऐसे वचन से महादान रूप सिद्ध होता है और तुमने जिस आवश्यक निर्युक्तिशास्त्र का प्रयोग संख्या जानने हेतु किया उसी शास्त्र की २१८, और २१९ वीं गाथाको गौरपूर्वक देख लिया होता तो तुम्हें यह पता चल जाता कि 'वरवरिका' का उल्लेख है [५].

तया सह कथं संख्या युज्यते व्यभिचारतः ।
तस्माद्यथोदितार्थं तु संख्याग्रहणमिष्यताम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—वरवरिका के साथ संख्याका विसंवाद दीखने से वह घटता नहीं है, इसलिये यथाकथित आशयवाला अर्थात् अर्थी के अभाव वाले संख्याविधान को स्वीकारना चाहिये—[३].

महानुभावताप्येषा तद्भावे न यदर्थिनः ।
विशिष्टसुखयुक्तत्वात्सन्ति प्रायेण देहिनः ॥ ७ ॥
धर्मोद्यताश्च तद्योगात्ते तदा तत्त्वदर्शिनः ।
महन्महत्त्वमस्यैवमयमेव जगदगुरुः ॥ ८ ॥

भावार्थ—महानुभावता भी यही है कि उनके सद्भाव में अर्थात् वे परमतारक पुरुष जहाँ तक होते हैं वहाँ तक उनके परम प्रभाव के

कारण ऐसा कोई प्राणी नहीं रहता जिसको कोई आवश्यकता हो, क्योंकि प्राय: तमाम प्राणी विशिष्ट सुख संतोष वाले होते हैं; धर्म में तत्पर रहते हैं; तथा उस समय प्राणीगण परम करुणानिधान जिनेश्वर देवके योग से तत्त्वदर्शी–सत्यदर्शी बन जाते हैं। जिनेश्वरों की यह ही सबसे बड़ी महत्ता है। इसी कारण से तीर्थंकर ही जगद्गुरु हैं, अन्य नहीं। व्यक्ति की महानता का मापदंड भी यह है कि–उनके सद्भाव में सारा संसार सुख-संतोष एवं प्रसन्नता से भरा रहे, आवश्यकता का अभाव महसूस न हो, भगवान जिनेश्वर देवों की इसी विशिष्टता के कारण उनमें तीनों जगत् का परमगुरुत्व साहजिक रीति से सिद्ध होता है—[७–८]

तीर्थकृद्दाननिष्फलतापरिहाराष्टकम्

[२७]

कश्चिदाहास्य दानेन क इवार्थ: प्रसिध्यति।
मोक्षगामी ध्रुवं ह्येष यतस्तेनैव जन्मना ॥ १ ॥

भावार्थ—कोई ऐसा कहते हैं कि जगद्गुरु के दान से धर्म अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से कौनसा अर्थसिद्ध होता है? अर्थात् एक भी नहीं; क्योंकि वे तो इसी जन्म में अवश्य मोक्ष में जाने वाले हैं—[१]

उच्यते कल्प एवास्य तीर्थकृन्नामकर्मण:।
उदयात्सर्वसत्त्वानां हित एव प्रवर्त्तते ॥ २ ॥

भावार्थ--ऊपर के श्लोक में शंका करने वाले महानुभावों को इस श्लोक में उत्तर देते हुए कहते हैं—तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से उन तारकों का ऐसा आचार ही है कि वे समस्त प्राणियों के हितमें ही प्रवृत्ति करें । [२].

धर्माङ्गख्यापनार्थं च दानस्यापि महामतिः ।
अवस्थौचित्ययोगेन सर्वस्यैवानुकम्पया ॥ ३ ॥

भावार्थ--पुनः दान लेने वाले और देने वाले दोनों की उचित परिस्थितियों का तालमेल होने से गृहस्थ एवं त्यागी महात्मा आदि सभी को अनुकंपावश दिये गये दान को भी धर्म के अंग रूप में बताने हेतु भगवान ने महादान दिया है । [३].

शुभाशयकरं ह्येतदाग्रहच्छेदकारि च ।
सदभ्युदयसाराङ्गमनुकम्पाप्रसूति च ॥ ४ ॥

भावार्थ--अनुकम्पाजन्य यह दान शुभाशयता उत्पन्न करने वाला, आग्रह अर्थात् ममत्व का नाश करने वाला, तथा पुण्योदय में प्रधान कारणभूत है--[४].

जैन साधु किसी गृहस्थ को दान नहीं दे सकते ऐसा सामान्य नियम है । अतः उनके विरुद्ध दीखने वाले आचार्यश्री के कथन के समर्थन में आचार्य श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

ज्ञापक चात्र भगवान् निष्क्रान्तोऽपि द्विजन्मने ।
देवदूष्यं ददद्धीमाननुकम्पाविशेषतः ॥ ५ ॥

भावार्थ—यहां साधु के दान के सम्बन्ध में स्वयं वर्त्तमान शासन वर्द्धमान स्वामी तीर्थंकर ही दृष्टान्त रूप हैं कि गृहस्थाश्रम का त्याग कर निकलने वाले परम बुद्धिनिधान भगवान ने भी अनुकम्पावश ब्राह्मण को देवदूष्य दिया था—[५].

इत्थमाशयभेदेन नातोऽधिकरणं मतम्
अपित्वन्यद्गुणस्थानं गुणान्तरनिबन्धनम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—यों आशय भेद होने के कारण गृहस्थ को दान देने पर भी अधिकरण अर्थात् पापप्रवृत्ति वाला नहीं माना गया। गृहस्थ का गुणस्थान साधु के गुणस्थान का कारण रूप है, ऐसा माना गया है—[६].

ये तु दानं प्रशंसन्तीत्यादिसूत्रं तु यत्स्मृतम्।
अवस्थाभेदविषयं द्रष्टव्यं तन्महात्मभिः ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुनः जो दान की प्रशंसा करते हैं वे प्राणियों के वध के इच्छुक हैं और जो उसकी निंदा करते हैं वे वृत्तियों का नाश करते हैं' ऐसा दान का निषेधक जो सूत्र-श्लोक मिलता है, उसे महात्म पुरुष अवस्थाविषयक अर्थात् अमुक खास अवस्था को उपलक्ष कर कहा गया है ऐसा जानें। मिलने वाला सूत्र-श्लोक इस प्रकार का है—

जेउ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं।
जेउ णं पडिडसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥ १ ॥

(अर्थ ऊपर के भावार्थ में आ गया है)—[७].

एवं न कश्चिदस्यार्थस्तत्त्वतोऽस्मात्प्रसिध्यति ।
अपूर्वः किन्तु तत्पूर्वमेवं कर्म प्रहीयते ॥ ८ ॥

भावार्थ--इस प्रकार से तीर्थङ्कर देव के दान से वास्तविक दृष्टि से कोई अपूर्व अर्थ सिद्ध नहीं होता, परन्तु इस प्रकार के महादान से तीर्थङ्कर भगवान अपने पूर्व के तीसरे भव में बांधें हुए तीर्थङ्कर नाम कर्म को क्षीण करते हैं, अर्थात् खपाते हैं--[८].

—•—

राज्यादिदानेऽपि तीर्थकृतो दोषाभावप्रति-पादनाष्टकम्

[२८]

राज्यऋद्धि वह नरकऋद्धि अथवा राजेश्वरी सो नरकेश्वरी इस प्रसिद्ध व्यवहारसूत्र को लक्ष्य में रखकर राज्य के दोष अर्थात् महापाप का आधार होने से उसके दान में दोष है, ऐसी शंका को प्रस्तुत करते हुए शंकाकार की शंका को आचार्य श्री बताते हैं :—

अन्यस्त्वाहास्य राज्यादिप्रदाने दोष एव तु ।
महाधिकरणत्वेन तत्त्वमार्गेऽविचक्षणः ॥ १ ॥

भावार्थ वास्तबिक मार्ग समझने में अकुशल अर्थात् अविचक्षण कोई मनुष्य कह सकता है राज्य आदि के महापाप का आधार-कारण रूप होने के कारण उसके दान में दोष ही है—[१].

उक्त शंका का समाधान आचार्य करते हैं

अप्रदाने हि राज्यस्य नायकाभावतो जनाः ।
मिथो वै कालदोषेण मर्यादाभेदकारिणः ॥ २ ॥
विनश्यन्त्यधिकं यस्मादिह लोके परत्र च ।
शक्तौ सत्यामुपेक्षा च युज्यते न महात्मनः ॥ ३ ॥
तस्मात्तदुपकाराय तत्प्रदानं गुणावहम् ।
परार्थदीक्षितस्यास्य विशेषेण जगद्गुरोः ॥ ४ ॥

भावार्थ--राज्य का प्रदान न किया जाए, तो काल दोष के कारण अपनी अपनी मर्यादा के भंग करने वाले मनुष्य नेता का अभाव होने के कारण परस्पर लड़ाई करने से इस लोक और परलोक में अधिक विनाश को पायेंगे। पुनः विनाश को रोकने की शक्ति होने पर भी महात्माओं की उपेक्षा करना अनुचित है, अतः परोपकार हेतु दीक्षित जगद्गुरु तीर्थङ्कर भगवान का विश्व हितार्थ दिया गया राज्यदान विशेष रूप से हितकर है—[२-३-४].

एवं विवाहधर्मादौ तथा शिल्पनिरूपणे ।
न दोषो ह्युत्तमं पुण्यमित्थमेव विपच्यते ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसी प्रकार से विवाहधर्म, कुलधर्म, ग्रामधर्म, राजधर्म के अंगीकार तथा शिल्प निरूपण में दोष नहीं है, क्योंकि उत्कृष्टतम पुण्य अर्थात् तीर्थंकर नामक कर्म का विपाक इसी प्रकार से होता है—[५].

किञ्चेहाधिकदोषेभ्यः सत्त्वानां रक्षणं तु यत् ।
उपकारस्तदेवैषां प्रवृत्यङ्गं तथास्य च ॥ ६ ॥

भावार्थ—पुनः लोगों का अधिक दोषों से रक्षण एवं उद्धार भी उपकार है, तथा वह तीर्थङ्कर की प्रवृत्ति का अंग भी है—[६].

नागादे रक्षणं यद्वद्गर्ताद्याकर्षणेन तु ।
कुर्वन्न दोषवांस्तद्वदन्यथाऽसम्भवादयम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे किसी मनुष्य को सर्प के दंश का भय पैदा होते ही यदि कोई दूसरा मनुष्य भयग्रस्त को उठाकर बचाने हेतु खड्डे में फेंक दे, तो भी वह दोष वाला नहीं गिना जाता किन्तु उपकारी ही गिना जाता है, वैसे ही दूसरा कोई उपाय अर्थात् रास्ता न होने के कारण विवाह धर्मादि का उपदेश देने वाले श्री तीर्थङ्कर भगवान दोषवान न होकर अमर्यादित पाप को रोककर मर्यादा का संरक्षण सिखाने वाले एवं यथासंभव ज्यादा से ज्यादा पाप से बच सकें ऐसा रास्ता बताने वाले उपकारी ही है—[७].

इत्थं चैतदिहैष्टव्यमन्यथा देशनाप्यलम् ।
कुधर्मादिनिमित्तत्वाद्दोषायैव प्रसज्यते ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस प्रकार से राज्यादि के दान को भी निर्दोष रूप से स्वीकार करना चाहिये, वरना धर्मदेशना भी अन्य धर्म, शास्त्र, चारित्र, आदि के निमित्त रूप होने से सदोष कहलायेगी—[८].

—०—

सामायिकस्वरूपनिरूपणाष्टकम् ।

[२९]

सामायिकं च मोक्षाङ्गं परं सर्वज्ञभाषितम् ।
वासीचन्दनकल्पानामुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥ १ ॥

भावार्थ—चन्दन को काटो तो भी वह कुल्हाड़ी के मुंह अर्थात् धार को सुवासित करेगा। उसे घिसो, तो भी वह सुगंध बहायेगा। उसे जलाओ तो भी वह सुगंध ही बिखेरेगा, चंदन का स्वभाव ही है शीतल बनाना एवं सुगन्ध फैलाना। प्रत्येक दशा में प्रत्येक के लिए सुगन्ध एवं शीतलता के वरदान देना चन्दन का धर्म है। परमोपकारी सर्वज्ञ ने फरमाया है कि—बांस के प्रति भी सुगन्ध छोड़ने वाले चंदन के वृक्ष के समान महापुरुषों का सामायिक नामक चारित्र ही मोक्ष का परम अंग अर्थात् अद्वितीय कारण है—[१].

निरवद्यमिदं ज्ञेयमेकान्तेनैवतत्त्वतः ।
कुशलाशयरूपत्वात्सर्वयोगविशुद्धितः ॥ २ ॥

भावार्थ—यह सामायिक चारित्र शुभ परिणाम रूप एवं मन-वचन और कायारूप तीनों योगों की शुद्धि स्वरूप होता है। इस कारण इसे सचमुच सर्वथा पापरहित अर्थात् परम पवित्र निरवद्य जाने—[२].

यत्पुनः कुशलं चित्तं लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।
तत्तथौदार्ययोगेऽपि चिन्त्यमानं न तादृशम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—परन्तु लौकिक दृष्टि से जो कुशलचित्त रूप से प्रतिष्ठित है, वह लौकिक उदारता वाला हो तो भी उसे सामायिक जैसा न समझें–[३].

मय्येव निपतत्वेतज्जगद्दुश्चरितं यथा ।
मत्सुचरितयोगाच्च मुक्तिः स्यात्सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—लौकिक औदार्य का प्रमाण देते हुए ग्रन्थकार आचार्य श्री कहते हैं–जिस प्रकार बुद्ध ने कहा है "विश्व–प्राणियों का यह दुश्चरित मेरे में आकर गिरे जिससे मेरे सुचरित्र के योग से समस्त प्राणियों को मोक्ष मिले ।"––[४].

उक्त असंभव परस्पर विरोधी लौकिक औदार्य के प्रमाण रूप बुद्ध के कथन का अनौचित्य बताते हैं––

असम्भवीदं यद्वस्तु बुद्धानां निर्वृतिश्रुतेः ।
सम्भवित्वे त्वियं न स्यात्तत्रैकस्याप्यनिर्वृतौ ॥ ५ ॥

भावार्थ—'यह वस्तु असंभव है, क्योंकि 'बुद्ध मोक्ष में गये हैं' ऐसा उनके आगम कहते हैं। पर कदाचित् उसे संभव मान भी लें, तो जब तक संसार में एक भी प्राणी का मोक्ष बाकी रहेगा तब तक बुद्ध का मोक्ष नहीं होगा। विश्वप्राणियों के दुश्चरित्र के अन्त तक बुद्ध मोक्ष में जायँ यह भी बुद्ध के वचन के अनुसार संभव नहीं दीखता। साथ साथ बौद्धों के आगम कहते हैं—'बुद्ध मोक्ष गये।' यहाँ बुद्ध–वचन एवं बुद्ध–आगम दोनों ही एक दूसरे के विरोधी दीखते हैं। इन दोनों में किसके वचन को यथार्थ मानें, यह भी एक समस्या है।––[५].

तदेव चिन्तनं न्यायात्तत्त्वतो मोहसङ्गतम् ।
साध्ववस्थान्तरे ज्ञेयं बोध्यादेः प्रार्थनादिवत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—अतः उपर्युक्त चिंतन अर्थात् भावना, उपर्युक्त संभवित-असंभवित दृष्टि से सचमुच मोहसंगत है। मात्र बोधिलाभ आदि की प्रार्थना की भांति वह राग युक्त अवस्था में ही संभव है।—[६].

अपकारिणि सद्बुद्धिर्विशिष्टार्थप्रसाधनात् ।
आत्मंभरित्वपिशुना तदपायानपेक्षिणी ॥ ७ ॥

भावार्थ—अपकार करने वाले का सद्भाव विशिष्टार्थ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में साधनभूत होने से, मात्र स्व-उन्नति का सूचक है, क्योंकि वह अपकार करने वाले की दुर्गति आदि दुःख की ओर से निरपेक्ष है अर्थात् उपकार करने वाले का अहित-अशुभ-दुःख आदि वह नहीं चाहता।—[७].

एवं सामायिकादन्यदवस्थान्तरभद्रकम् ।
स्याच्चित्तं तत्तु संशुद्धेर्ज्ञेयमेकान्तभद्रकम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस प्रकार से सामायिक से भिन्न चित्त अर्थात् उपर्युक्त कुशल चित्त मोहयुक्त अवस्था में भद्र अर्थात् कल्याणकारी होता है, पर हर बार नहीं, किन्तु सामायिक को तो संपूर्ण शुद्ध अर्थात् सर्वतो निर्दोष होने के कारण सर्वथा कल्याणकारी समझना चाहिए—एकान्त हितकर मानकर उसका सदैव आचरण करना चाहिये—[८].

—०—

केवलज्ञानाष्टकम्

[३०]

सामायिकविशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः ।
क्षयात्केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम् ॥ १ ॥

भावार्थ—सामायिक द्वारा सुविशुद्ध होनेवाली आत्मा घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से, समस्त लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त करती है । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अंतराय ये आठ कर्म हैं । इन आठों में से आत्मा के केवलज्ञान अर्थात् केवलदर्शन आदि मूलगुणों का घात करने वाले—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय इन चार कर्मों को घाति-कर्म कहते हैं । इन घाति-कर्मों के नाश से जीव लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान पाता है । [१].

ज्ञाने तपसि चारित्रे सत्येवास्योपजायते ।
विशुद्धिस्तदतस्तस्य तथा प्राप्तिरिहेष्यते ॥ २ ॥

भावार्थ—ज्ञान, तप और चारित्र के होने पर ही सामायिक की विशुद्धि होती है, अतः सामायिक द्वारा आत्मा को उक्त रीति से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, ऐसा माना गया है—[२].

स्वरूपमात्मनो ह्येतत्किन्त्वनादिमलावृतम् ।
जात्यरत्नांशुवत्तस्य क्षयात्स्यात्तदुपायतः ॥ ३ ॥

भावार्थ—केवलज्ञान आत्मा का स्वभावरूप है, परन्तु जैसे रत्न जबतक जमीन में होते हैं, तबतक रत्नकिरणें भी जमीन में ढकी रहती हैं, और जब कोई कुशल कलाकार जमीन में से रत्नों को निकालकर निर्मल करता है तब रत्नकिरणें सर्व दिशाओं को प्रकाशित करती हैं; वैसे ही केवलज्ञान भी कर्म-मल से ढका हुआ है, और कर्म-मल-क्षय के उपायों द्वारा मल का क्षय होते ही केवलज्ञान प्रगट होता है–[३].

आत्मनस्तत्स्वभावत्वाल्लोकालोकप्रकाशकम् ।
अत एव तदुत्पत्तिसमयेऽपि यथोदितम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—लोकालोक को प्रकाशित करना यह आत्मा का स्वभाव होने से केवलज्ञान भी लोकालोक प्रकाशक है, इसी कारण से केवल ज्ञान की उत्पत्ति के समय भी वह लोकालोक-प्रकाशक होता है–[४].

आत्मस्थमात्मधर्मत्वात्संवित्त्या चैवमिष्यते ।
गमनादेरयोगेन नान्यथा तत्त्वमस्य तु ॥ ५ ॥

भावार्थ—वह केवलज्ञान आत्मा का धर्मस्वरूप होता है और ज्ञान अर्थात् स्वानुभव से आत्मा में ज्ञात होता है। वह आत्मा के बाहर ज्ञेय पदार्थों के पास आता जाता भी नहीं है। इन कारणों से वह आत्मा में ही रहता है, अन्यथा केवलज्ञान का केवलत्व अर्थात् सकलत्व या पूर्णत्व ही नहीं रहेगा। [५].

कोई शंकाकार शंका करे कि 'आत्मा चन्द्र समान है और ज्ञान चन्द्रप्रभा समान है, ऐसा जो कथन है तदनुसार जैसे चन्द्रप्रभा चन्द्र से बाहर

जाती है वैसे ही आत्मज्ञान भी आत्मा के बाहर जाय, तो इसमें कोई दोष नहीं है। शंकाकार की शंका का समाधान आचार्यश्री कर रहे हैं–

यच्च चन्द्रप्रभाद्यत्र ज्ञातं तज्ज्ञातमात्रकम् ।
प्रभा पुद्गलरूपा यत्तद्धर्मो नोपपद्यते ॥ ६ ॥

भावार्थ––चन्द्रप्रभा आदि प्रकाशक वस्तुओं का उदाहरण जो यहाँ पर दिया गया है, वह उदाहरण मात्र है मतलब उसमें प्रकाशकता रूप धर्म के साधर्म्य के अतिरिक्त दूसरे धर्मों का साधर्म्य नहीं है क्योंकि पुद्गल द्रव्य रूप चन्द्रप्रभा ज्ञानप्रभा की समता नहीं कर सकती––[६].

अतः सर्वगताभासमप्येतन्न यदन्यथा ।
युज्यते येन सन्न्यायात्संवित्त्यादोऽपि भाव्यताम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुनः चन्द्रप्रभा का प्रकाश सर्वत्र नहीं फैलता, इस कारण जैसा तुम कहते हो वैसे संपूर्ण साधर्म्य वाले इस उदाहरण से केवलज्ञान सर्वत्र सुविस्तृत प्रकाश वाला अर्थात् सर्वप्रकाशक है ऐसा भी नहीं सिद्ध होगा। वह दूसरे प्रकार से अर्थात् दृष्टान्तों के साथ आंशिक साधर्म्य को स्वीकार करने पर ही घटेगा, अतः चन्द्र-चन्द्रप्रभा के दृष्टान्त को भी सन्नीति द्वारा अपनी बुद्धि से विचारना चाहिये––[७].

नाद्रव्योऽस्ति गुणोऽलोके न धर्मान्तौ विभुर्न च ।
आत्मा तद्गमनाद्यस्य नाऽस्तु तस्माद्यथोदितम् ॥ ८ ॥

भावार्थ––न्याय का सिद्धान्त है कि 'कोई भी गुण द्रव्यरहित नहीं होता।' आलोक में धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय नहीं है,

तथा आत्मा सर्वव्यापक नहीं है । अतः केवलज्ञान का आत्मा के बाहर गमनागमन भी नहीं होता, ऐसा ही कहा है--[८].

--०--

तीर्थकृद्देशनाष्टकम्

[३१]

वीतरागोऽपि सद्वेद्यतीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयेन तथा धर्मदेशनायां प्रवर्तते ॥ १ ॥

भावार्थ--तीर्थंकर, नाम-कर्म को वेधने हेतु अर्थात् क्षीण करने हेतु तीर्थङ्कर नाम-कर्म के उदय हो जाने के कारण वीतराग होकर भी उपर्युक्त प्रकार से धर्मदेशना देते हैं--[१].

वरबोधित आरभ्य परार्थोद्यत एव हि ।
तथाविधं समादत्ते कर्म स्फीताशयः पुमान् ॥ २ ॥

भावार्थ--उत्तम सम्यग्-दर्शन की सम्प्राप्ति के समय से ही परोपकार में तत्पर उदार आशय वाले महानुभाव ही तीर्थंकर नाम-कर्म बांधते है--[२].

यावत्संतिष्ठते तस्य तत्तावत्संप्रवर्तते ।
तत्स्वभावत्वतो धर्मदेशनायां जगद्गुरुः ॥ ३ ॥

भावार्थ--जगद्गुरु तीर्थङ्कर नाम-कर्मोदय विद्यमान होने तक धर्मदेशना करते हैं यह उनका स्वभाव ही है, अतः वे धर्मदेशना देते ही हैं--[३].

वचनं चैकमप्यस्य हितां भिन्नार्थगोचराम् ।
भूयासामपि सत्त्वानां प्रतिपत्तिं करोत्यलम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—उन परमतारक जगद्गुरु का मात्र एक ही वचन अनेक सत्त्वों अर्थात् प्राणियों को विविध वस्तुविषयक हितकारक प्रतीति सुगम रीति से करवाता है—[४].

अचिन्त्यपुण्यसंभारसामर्थ्यादेतदीदृशम् ।
तथा चोत्कृष्टपुण्यानां नास्त्यसाध्यं जगत्त्रये ॥ ५ ॥

भावार्थ—अकल्पनीय पुण्यसंचय के बल से परमतारक श्री तीर्थंकर भगवानों का वचन ऐसा अनुपम होता है। सचमुच उत्कृष्ट पुण्यशाली आत्माओं के लिए तीनों जगत में कुछ भी असाध्य नहीं है ।[५].

अभव्येषु च भूतार्था यदसौ नोपपद्यते ।
तत्तेषामेव दौर्गुण्यं ज्ञेयं भगवतो न तु ॥ ६ ॥

भावार्थ—कोई यदि शंका करे कि 'भगवान की देशना में इतनी प्रचण्ड शक्ति है, तो भी वह अभव्यों को कोई फलदायी नहीं होती। अतः उसे निष्फल कहना चाहिए।' इस शंका का उत्तर इस श्लोक में आचार्य देते हैं—पुनः अभव्य आत्माओं को प्रभु की भूतार्थ अर्थात् सत्यदेशना जो नहीं प्रभावित करती, उसमें अभव्यों का ही दोष है, न कि भगवान का—[६].

दृष्टश्चाभ्युदये भानोः प्रकृत्या क्लिष्टकर्मणाम् ।
अप्रकाशो ह्युलूकानां तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—सूर्योदय होते ही सारा संसार प्रकाश से भर जाता है। प्राय: संसार के सभी प्राणियों के चक्षुओं में स्पष्ट देखने की क्षमता आ जाती है, किन्तु क्लिष्ट—कठोर कर्म वाले उल्लू के लिए तो सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक रीति से ही अंधकार का कारण बनता है। उसी के अनुसार परमतारक जिनेश्वरों की देशना से समस्त भव्य प्राणियों को सम्यज्ज्ञान आदि का अलभ्य लाभ होता है, किन्तु अभव्यों को सज्ज्ञान की प्राप्ति का अभाव ही रहता है।' जैसे उल्लू का स्वभाव उजाले को अन्धेरे रूप में देखने का है, वैसे ही अभव्य के लिये भी सज्ज्ञान रूप प्रकाश अंधकारमय बन जाता है।—[७].

इयं च नियमाज्ज्ञेया तथानन्दाय देहिनाम्।
तदात्वे वर्तमानेऽपि भव्यानां शुद्धचेतसाम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—उस काल में अर्थात् तीर्थङ्कर भगवान के समय में तथा वर्त्तमान काल में भी शुद्ध चित्तवाले भव्यजीवों को इस देश के वणिक् की वृद्धा दासी की भाँति अवश्य आनन्द होता है ऐसा अवश्य मानो! वणिक् दासी की घटना इस प्रकार है—

एक गांव में एक वणिक् था। उसके घर एक वृद्धा दासी उस वणिक् के पिता के समय से कार्य करती थी। दासी विश्वासपात्र एवं ईमानदार थी। इस दासी को जंगल से लकड़ी लाने का काम सौंपा गया था। अपने कर्त्तव्य के अनुसार दासी हमेशा लकड़ी लाती थी। वणिक् पत्नी कुछ कर्कशा एवं कंजूस थी। एकबार वृद्धा दासी लकड़ी लेने हेतु जंगल में गई। पर तीन दिनों से ज्वराक्रान्त

होने से वह अधिक इन्धन न बटोर पाई। शरीर के स्वस्थ होने से सारे कार्य अच्छे होते हैं। एक तो दासी की वृद्ध अवस्था थी। साथ-साथ ज्वर के शरीर में घर करने से शरीर की शक्ति भी क्षीण हो गयी थी। अतः वृद्धा जिस थोड़े से इन्धन, को बटोर पाई थी, वह ले आई। थोड़ा इन्धन देखकर सेठानी क्रुद्ध हो गई। सेठानी ने कहा-- इस घर में जितना खाती हो इतना इन्धन तो कम से कम अवश्य लाओ। मैं तीन दिन से देख रही हूँ तुम दिन प्रति दिन काम नहीं कर रही हो। यह नहीं चल सकता, तुमको अपना पेट भरने जितना काम जरूर करना पड़ेगा। जाओ! और इन्धन ले आओ।

वृद्धा दासी ने अपने ज्वर का समाचार सेठानी से नहीं कहा था। दासी पुनः जंगल में गई पहले से कुछ अधिक इन्धन इकट्ठा करके ले आई। इतना इन्धन देखकर भी सेठानी पुनः गुस्सा होकर चिल्लाई 'अरे बुढ़िया! इतने इन्धन में तो तेरे पैर भी नहीं जलेंगे। इतने से क्या होगा? बिचारी वृद्धा सेठानी का रूप देखकर वापिस जंगल में गई और ज्यादा से ज्यादा इन्धन की गठरी बाँधकर उठाने लगी। पर अब बुढ़िया के शरीर में ताक़त कहाँ थी? बेचारी ज्वर-पीड़ित भूखे पेट और नंगे पैर से जंगल का तीसरा चक्कर काट रही थी। बुढ़िया ने आस-पास नजर दौड़ाई तो दूर कोई मुसाफिर दीखा। पूरा जोर लगाकर बुढ़िया ने आवाज देकर मुसाफिर को बुलाकर कहा 'भैया जरा इन्धन की गठरी सिर पर चढ़वा दो तो उपकार होगा।' मुसाफिर ने इन्धन की गठरी वृद्धा के सिरपर चढ़ा दी। अब बुढिया एक एक कदम रखती हैं, तो नजरों में लाल पीले रंग दिखते हैं।

बोझ असह्य हो रहा है। पर पेट के लिये सब कुछ कर रही है। मारे भूख के पेट पाताल में पहुंच रहा है। शरीर ज्वर की गरमी से जल रहा है। ऐसी अवस्था में बुढ़िया एक एक कदम तय कर रही ह। इतनी देर में बुढ़िया ऐसे स्थान पर आई कि जहां तीर्थङ्कर भगवान का समवसरण विरचित था। भगवान मालकोश राग में देशना फरमा रहे थे। बारह पर्षदाएँ जिनवाणी सुनने में एकाग्र थीं। जन्मजात बैरी पशु भी भगवान की वाणी सुनने में अपने बैर को भूल गये थे एवं अपने बैरियों के पास भाइयों की भाँति बैठ कर जिनवाणी सुन रहे थे। बुढ़िया के कानों में भी प्रभुवाणी पड़ी। उस वाणी के शब्दों में ऐसी कमाल की ताकत थी, ऐसा अमृत था कि—बुढ़िया का सारा श्रम दूर हो गया, मानों बुढ़िया कानों से सुधापान कर रही थी। उस वाणी-सुधा के प्रभाव से बुढ़िया का सारा रोग चला गया। बुढिया माँ सिरपर बोझ है इसको तो भूल गई और वाणी सुनने में ऐसी एकतार एवं चट्टान की तरह अडोल बन गई कि मानो कोई रोग शरीर में न हो। उस समय किसी ने भगवान से प्रश्न किया—'हे भगवन् यह बुढ़िया इसी प्रकार बाझ माथे पर लिए कब तक जिनवाणी सुन सकेगी ?

भगवान ने फरमाया 'हे महानुभाव ! यदि तीर्थङ्कर लगातार छह मास तक देशना देते रहें तो भी इस बुढ़िया को न भूख लगेगी न प्यास, और यह बुढ़िया यदि यों की यों छह मास तक देशना सुनेगी तो भी नहीं थकेगी। इतनी प्रचण्ड एवं कमाल की ताकत जिनवाणी में है।

मोक्षाष्टकम्

[३२]

कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो जन्ममृत्य्वादिवर्जितम् ।
सर्वबाधाविनिर्मुक्त, एकान्तसुखसङ्गतः ॥ १ ॥

भावार्थ—जन्म मरणादि रहित, किसी भी प्रकार की बाधा से रहित, एकान्त सुख अर्थात् आनन्द-युक्त मोक्ष सकल कर्म के क्षय से होता है ।—[१].

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च भ्रष्टमनन्तरम् ।
अभिलाषापनीतं यत्तज्ज्ञेयं परमं पदम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पद अर्थात् स्थान दुःख से मिश्र नहीं है, जो उत्पन्न होने के बाद कभी-नष्ट नहीं होता, जो सदा इच्छाओं से रहित है-उसे परम पद मोक्ष कहते हैं ।—[२].

कश्चिदाहान्नपानादिभोगाभावादसङ्गतम् ।
सुखं वै सिद्धिनाथानां प्रष्टव्यः स पुमानिदम् । ॥ ३ ॥
किंफलोऽन्नादिसम्भोगो बुभुक्षादिनिवृत्तये ।
तन्निवृत्तेः फलं किं स्यात्स्वास्थ्यं तेषां तु तत्सदा ॥ ४ ॥

भावार्थ—कोई मनुष्य यों कहे कि अन्नपानादि भोगों का अभाव होने से मोक्ष में सिद्धों को सुख मिलता है यह कहना असंगत है । तो उससे यह पूछना चाहिये-कि अन्न आदि का संभोग किसलिये है ?

यदि वह यों कहे कि भूख आदि का दुःख दूर करने के लिये है। तो पुनः उससे पूछना चाहिये कि क्षुधानिवारण का प्रयोजन अर्थात् फल क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में यदि वह कह दे कि "स्वास्थ्य प्राप्ति अन्नादि- संभोग का प्रयोजन है।" तो ऐसा प्रत्युत्तर मिलते ही उससे तत्काल कह दो--सिद्ध सदा स्वस्थ ही होते है।—[३-४]

अस्वस्थस्यैव भैषज्यं स्वस्थस्य तु न दीयते।
अवाप्तस्वास्थ्यकोटीनां भोगोऽन्नादेरपार्थकः ॥ ५ ॥

भावार्थ--औषध तो सदैव अस्वस्थ को ही दिया जाता है, स्वस्थ को कभी नहीं दिया जाता। अतः स्वास्थ्य की चरमसीमा को-पराकाष्ठा को पाये हुए सिद्धों-परमसिद्धों के लिए अन्नादि का उपयोग निरर्थक है।--[५].

अकिञ्चित्करकं ज्ञेयं मोहाभावाद्रताद्यपि।
तेषां कण्ड्वाद्यभावेन हन्त कण्डूयनादिवत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार खुजली आदि न आती हो तो खुजाना आदि निरर्थक है, उसी प्रकार से सिद्धों में मोह कहीं सर्वथा अभाव होने से मैथुन आदि भी निष्प्रयोजन है।—[६].

अपरायत्तमौत्सुक्यरहितं निष्प्रतिक्रियम्।
सुखं स्वाभाविकं तत्र नित्यं भयविवर्जितम् ॥ ७ ॥

भावार्थ–मोक्ष में सुख बिलकुल स्वतन्त्र, उत्सुकता-आकांक्षा विघ्न से अधीरता आदि से रहित, किसी भी प्रकार के विघ्न से सर्वथा मुक्त, स्वाभाविक, नित्य, त्रैकालिक और भयमुक्त होता है।--[७].

परमानन्दरूपं तद्गीयतेऽन्यैर्विचक्षणैः ।
इत्थं सकलकल्याणरूपत्वात्साम्प्रतं ह्यदः ॥ ८ ॥

भावार्थ--अन्य जैनेतर विद्वानों ने भी मोक्ष-सुख को परमानन्दरूप कहा है। इस प्रकार समस्त कल्याणरूप होने से वह ही साम्प्रत अर्थात् उचित इष्ट है।--[८].

संवेद्यं योगिनामेतदन्येषां श्रुतिगोचरः ।
उपमाभावतो व्यक्तमभिधातुं न शक्यते ॥ ९ ॥

भावार्थ--मात्र केवलज्ञानी महात्माओं को ही मोक्षसुख अनुभवगम्य है, जबकि दूसरों के लिये तो श्रवणगम्य है, पुनः विश्व में एक भी उपमा ऐसी नहीं है जिसे देकर उसे स्पष्ट रीति से कहा जा सके।-[९].

अष्टकाख्यं प्रकरणं कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम् ।
'विरहा'त्तेन पापस्य भवन्तु सुखिनो जनाः ॥ १० ॥

भावार्थ—अष्टक नामक इस प्रकरण की रचना करके मैंने जो पुण्य उपार्जित किया है, उस पुण्य द्वारा आगे होने वाले पाप के 'विरह' अर्थात् वियोग या विनाश से समस्त मनुष्य सुखी बनें।—[१०].

इति अष्टक प्रकरण एवं हिन्दी भावार्थ

राजस्थान-केसरी

पू. गुरुदेवश्री विरचित साहित्य

१. परमार्हत् गुर्जरेश्वर श्री कुमारपाल भूपाल विरचित आत्मनिन्दा द्वात्रिंशिका का पद्यमय हिन्दी अनुवाद
२. श्री विजयलावण्यसूरीश्वर अष्टप्रकारी पूजा
३. श्री अष्टक प्रकरण हिन्दी भावानुवाद

— सम्पादन —

१. श्री उणादिगणविवृत्ति

प्रकाशन के पथ पर—

१. संतोष के सहारे हिन्दी लेखसंग्रह)
२. सहस्रावधानी परम पू० आचाय पुरन्दर श्री मुनिसुन्दरसूरीश्वररचित उपदेशरत्नाकर हिन्दीभावानुवाद ।

प्राप्ति-स्थान—

श्री ज्ञानोपासक-समिति

श्री विजयलावण्यसूरीश्वर-ज्ञानमंदिर

बोटाद, सौराष्ट्र (गुजरात राज्य)